# GURUKULA - PATRIKA

1987

G. K. V.
Hardwar

150871

# संस्कृति

## गुरुकुल पत्रिका का शोध विशेषांक

सम्पादक

**डॉ० जयदेव वेदालंकार**

## गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

# सम्पादक-मण्डल

प्रधान संरक्षक :

प्रो० आर०सी० शर्मा
कुलपति

संरक्षक :

प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार
उपकुलपति

परामर्शदाता :

डा० विष्णुदत्त राकेश
प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग

व्यवसाय प्रबन्धक :

श्री जगदीशप्रसाद विद्यालंकार
पुस्तकालयाध्यक्ष

सह-सम्पादक :

डा० विजयपाल शास्त्री
प्रवक्ता, दर्शन-विभाग

छात्र-सम्पादक :

श्री दुधपुरी गोस्वामी
एम० ए० द्वितीय वर्ष
दर्शन-विभाग

प्रकाशक :

डा० वीरेन्द्र अरोड़ा
कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मुद्रण :

दी हाक [अंग्रेजी] साप्ताहिक
हरिद्वार की प्रेस पर

मूल्य :

२५.०० रुपये वार्षिक

ओ३म्

# गुरुकुल-पत्रिका

( गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालयस्य मासिकी-पत्रिका )


सम्पादक

**डा० जयदेव वेदालंकार**

न्यायाचार्य, पी-एच०डी०, डी०लिट्०

रीडर-अध्यक्ष, दर्शन-विभाग



प्रकाशक

## गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

---

माघ, फाल्गुन और चैत्र–२०४३ वर्ष : ३७ अङ्क : १४, १५, १६

जनवरी, फरवरी, मार्च–१९८७ पूर्णाङ्क : ३८५–३८७

---

इस अंक का मूल्य : १५.०० रुपये

# विषय-सूची

# पुरोवाक्

भारतीय संस्कृति के विविध आयामों को लेकर गुरुकुल पत्रिका का "संस्कृति विशेषाङ्क" पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है।

आज इस आधुनिक वैज्ञानिक युग ने बहुत अधिक उन्नति की है। सभी प्रकार की दूरियाँ समाप्त होती जा रही हैं। मनुष्य के लिए सभी प्रकार के सुख के साधनों का अत्यधिक विकास और विस्तार होता जा रहा है। इस विस्तार और विकास के साथ सामरिक सामग्री का विकास भी अत्यधिक रूप में हुआ है। आज ऐसा लगता है कि विज्ञान द्वारा प्रदत्त स्वर्गीय सुख के साधनों को विश्वयुद्ध की विभीषिका कहीं हम से छीन न ले। विज्ञान ने जिन सुखों को हमें प्रदान किया है, उनको वही विज्ञान समूल नष्ट न कर दे। समस्त विश्व इस प्रकार की चिन्ताओं में निमग्न-सा जान पड़ता है। हथियारों की होड़ किसी भी वातचीत, कॉन्फ्रेन्स या यू०एन०ओ० आदि के प्रस्तावों से रुक नहीं पा रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि कभी मनुष्य अपने प्रयास से अपना सर्वनाश न कर लेवे।

ऐसे समय में प्राचेताओं के वे संस्कृति के सिद्धान्त ही मानव को भटके मार्ग से बचाकर उसे सर्वनाश होने से बचा सकते हैं। ऐसे समय में "संस्कृति विशेषाङ्क" संस्कृति के विविध पहलुओं को समझने में सहायता प्रदान करेगा।

मैं इस कार्य हेतु डा० जयदेव वेदालंकार (सम्पादक—गुरुकुल पत्रिका) को साधुवाद देता हूँ।

दिनाङ्क : २५.३.८७

—रामचन्द्र शर्मा
कुलपति,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

सम्पादकीय

# सा संस्कृतिर्विश्ववारा

भारतीय संस्कृति का महत्त्व वर्णन करते हुए एक कवि ने भावुकतामयी भाषा में कहा है—

यूनान मिस्र रोमाँ सब मिट गए जहाँ से ।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी ।।

संस्कृति शब्द की व्युत्पत्ति—सम् उपसर्ग+कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय से संस्कृति शब्द का निर्माण हुआ है। जिसे इस प्रकार कहा जा सकता है— "संस्करणं परिष्करणं चेतसः आत्मनो वेति।" संस्कृति शब्द का चाहे धातु सम्बन्धी एक ही अर्थ क्यों न हो, वर्तमान समय में संस्कृति के विविध अर्थ ग्रहण किये जाते है। कुछ विद्वान् संस्कृति की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—डा० सम्पूर्णानन्द की मान्यता है कि "समष्टिगत समान अनुभवों से जिस पदार्थ का निर्माण होता है, वह संस्कृति कहलाती है।" श्री राजगोपालाचारी जी का कथन है कि "जाति, राष्ट्र और समाज में जो शिष्ट जनों की वाणी, विचार और आचरण का समग्र रूप है, वह संस्कृति कहलाती है।" वस्तुतः संस्कृति की समग्र व्याख्या करना बहुत सरल कार्य नहीं है। संस्कृति का अर्थ अपने अन्दर बहुत कुछ लिये हुए है। आजकल विद्वान् सभ्यता को संस्कृति समझ बैठते हैं। कपड़ों का पहनना, परम्परा तथा कुछ रूढ़ियाँ जो समय-समय पर परिवर्तित होती रहती हैं, उन्हें हम संस्कृति समझ बैठे हैं। वास्तव में संस्कृति तो मानव-जीवन की शक्ति, पवित्र साधनों की विमल विभूति, राष्ट्रीय आदर्श की गौरवमयी मर्यादा है। वह मनुष्य के आत्मा को प्रसन्न रखती है, दुर्भाव और दुर्गुण को दूर करके सद्भाव एवं सद्गुणों को देती है। अतः संस्कृति आत्मा है तो सभ्यता शरीर है। शरीर परिवर्तित होता रहता है, आत्मा परिवर्तित नहीं होती है।

आजकल प्रायः हम आंग्ल भाषा के कल्चर (Culture) शब्द के अर्थ में संस्कृति शब्द की व्याख्या करते हैं। वस्तुतः संस्कृति शब्द के पर्याय का आंग्ल भाषा में कोई शब्द नहीं है। कल्चर शब्द का अर्थ केवल समाज का निवास

प्रकार, वेशभूषादि की उन्नति आदि का ही ग्रहण किया जाता है। संस्कृति का अभिप्राय इससे भिन्न है। टी०एस० इलियट महोदय का कथन है कि "कल्चर शब्द से मेरा अभिप्राय एक स्थान पर रह रहे पुरुष समुदाय या समाज के निवास के प्रकार से है।" कुछ विद्वान् यह भी गलती करते हैं कि धर्म, कला, शिक्षा और सभ्यता तथा संस्कृति अभिन्न हैं। वस्तुतः धर्म, कला, शिक्षा और सभ्यता ये संस्कृति के विभिन्न अङ्ग हैं। डा० सम्पूर्णानन्द का यह मत उचित ही है कि संस्कृति आन्तरिकी तथा मानसिकी है और सभ्यता बाह्य और भौतिकी है। अतः आजकल लगभग जो भी संस्कृति के नाम पर होता है वह केवल प्रायः सभ्यता का ही प्रदर्शन होता है। संस्कृति के नाम पर केवल नृत्य और कला ही रह गये हैं। इससे भारतीय समाज किसी चौराहे पर खड़ा हुआ भटक-सा रहा है।

संस्कृति का आदि स्रोत वैदिक साहित्य है। विश्व के समस्त सम्प्रदायों के आचार्यों एवं संस्थापकों की दार्शनिक मान्यता, भौगोलिक ज्ञान व वैज्ञानिक सिद्धान्तों में मतभेद हो सकता है। वे परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं। परन्तु संस्कृति विषयक मान्यताओं में वेद से लेकर मध्यकालीन परम्परा तथा क्रिश्चियन, इस्लाम, सिक्ख और समस्त सम्प्रदायों में कुछ भी भिन्नता नहीं है। वैदिक संस्कृति के मूल सूत्र एवं मन्त्रों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है जिनकी एक भी मान्यता का विरोध विश्व के किसी भी सम्प्रदाय के संस्थापकों के सांस्कृतिक विचार मन्थन में नहीं है।

सा संस्कृतिर्विश्ववारा—संस्कृति वह है जो विश्व में वरणीया है। जो समस्त विश्व समुदाय को आच्छादित करती है अर्थात् समस्त विश्व समुदाय जिसके बिना अपना स्वत्व ही न रख पायेगा। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के हजारों मन्त्रों में इस प्रकार संस्कृति के विविध अङ्गों को दर्शाया गया है। उपर्युक्त मन्त्रांश यजुर्वेद में उल्लिखित है। अन्य यजुर्वेद के मन्त्रांश यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—

१. व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूर्मय्यभूदेषा । अ० ५ मंत्र ४०
२. वाचं ते शुन्धामि.........चरित्रांस्ते शुन्धामि। अ० ६ मंत्र १४
३. मनस्तऽआप्यायताम्.....................। अ० ६ मं० १५

इसी प्रकार व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र तथा विश्व की सुंदर सामाजिक व्यवस्था का वर्णन तथा इनके अन्दर रहने वाली संस्कृति रूपी आत्मा का वर्णन सर्वत्र मिलता है।

इसी तरह ऋग्वेद और अथर्ववेद में इसी संस्कृति का वर्णन सहस्रों मंत्रों में मिलता है। जिनके किसी भी अंश का विरोध दुनिया के किसी भी समाजशास्त्री और सम्प्रदाय के संस्थापकों ने नहीं किया है। इसलिये पाश्चात्य और पूर्वी संस्कृति की मान्यताओं के विरोध की बात का खण्डन भी स्वतः हो जाता है। पश्चिम और पूर्व की संस्कृति का विरोध नहीं हो सकता है। हाँ, विरोध या भिन्नता हो सकती है केवल सभ्यता एवं वेशभूषा आदि में। किसी भी महान् पुरुष की संस्कृति की अवधारणा में किसी भी प्रकार का मतभेद या वैचारिक भिन्नता नहीं है। चाहे वे भारतीय ऋषि हों, पारसी मत के संस्थापक जरदस्त हों, इस्लाम के संस्थापक मोहम्मद साहब हों, ईसाई सम्प्रदाय के ईसामसीह हों, जैनों के तीर्थङ्कर हों, सिक्खों के गुरु नानक हों, कबीर हों, शङ्कर हों, रामानुज हों और चाहे वैदिक धर्म के पुनरुद्धारक महर्षि दयानन्द हों। किसी महापुरुष के संस्कृति की अवधारणा विषयक विचारों में कोई भी मतभेद नहीं है।

अतः संस्कृति की मूल सलिल विमल धारा जो वेद से निःसृत हुई है, उसमें सभी महापुरुषों ने स्नान करके अपने को पवित्र किया है। आधुनिक स्वार्थी लोग, राजसत्ता के भूखे विभिन्न रूप धारण करके विश्व को विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। हमारा विश्वास है कि इस संस्कृति की पवित्र धारा में कुछ अवरोध तो आ सकता है, इसे विनष्ट नहीं किया जा सकता है।

दनाङ्क : २४.३.८७ —जयदेव वेदालंकार

॥ ओ३म् ॥

**स्वामी आनन्दबोध सरस्वती**

प्रधान
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान,
नई दिल्ली–११०००२

दिनांक : ३–३–८७

## सन्देश

श्री जयदेवजी वेदालंकार,
सम्पादक, गुरुकुल पत्रिका
एवं अध्यक्ष—दर्शन विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार

नमस्ते !

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की मासिक शोधपत्रिका—गुरुकुल पत्रिका—का संस्कृति विशेषांक प्रकाशित किया जा रहा है। मैं समझता हूं कि इससे आर्य जनता को ही नहीं अपितु प्रत्येक व्यक्ति जो हमारी प्राचीन संस्कृति पर विश्वास रखता है, उन सबको ज्ञान मिलेगा।

वेद के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द ने जो विचारधारा संसार के सामने रखी थी, वह अत्यन्त प्राचीन और आज के भौतिकवाद के युग में भी सर्वथा नवीन है—

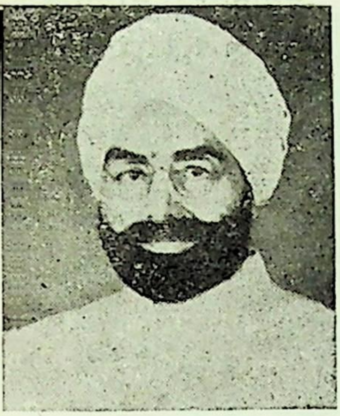
पश्य देवस्य काव्यं, न ममार न जीर्यति ।

यह घोषणा साक्षात् ईश्वरीय घोषणा है। इसलिये महर्षि द्वारा वेद का प्रतिपादन जिस शैली में किया गया है, उसका प्रसार और प्रचार जनमानस

तक करने में यह पत्रिका सहायक होगी। वेदों पर आधुनिक भाष्यकारों ने (जिनमें देशी व विदेशी शामिल हैं) गूढ़ आशयों को न समझकर रूढ़िवादी विचारों से जो भाष्य किया, उसका स्वामी दयानन्द ने कड़ा विरोध किया था। छह दर्शनों के सम्बन्ध में कुछ आचार्यों का मत था कि दर्शन परस्पर विरोधी हैं किन्तु महर्षि दयानन्द ने इन्हें एक दूसरे का पूरक बताया। इससे दार्शनिक जगत् का बड़ा उपकार स्वामी जी ने किया है। महर्षि दयानन्द की संस्कृति, दर्शन व वेदों के सम्बन्ध में की गई घोषणाएँ, वेद व संस्कृति में विश्वास रखने वालों को बड़ा बल प्रदान करेंगी। महर्षि दयानन्द ने वेद को अपने कार्य क्षेत्र का आधार बनाकर अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की थी। मुझे आशा है आपकी पत्रिका उनके ही इस कार्य को आगे बढ़ाने में सहायक होगी।

पत्रिका के प्रकाशन की सफलता चाहता हूं।

भवदीय
ह०/- स्वामी आनन्दबोध सरस्वती



राष्ट्रपति सचिवालय
दिनांक : २६-२-८७

# सन्देश

महोदय,

आपका पत्र प्राप्त हुआ। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल पत्रिका का विशेषांक "संस्कृति" आप प्रकाशित कर रहे हैं। इस संस्कृति विशेषांक से भारतीय धर्म और दर्शन का परिचय मिलेगा। मेरी इस कार्य के लिये बहुत-२ शुभकामनाएँ हैं।

ह०/- जैल सिंह

प्रधानमन्त्री सचिवालय
दिनांक : १५-२-८७



## सन्देश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय अपनी मासिक पत्रिका "गुरुकुल पत्रिका" का संस्कृति विशेषांक प्रकाशित कर रहा है। आधुनिक युग में भारतीय संस्कृति एवं मूल्यों के प्रसार एवं प्रचार की आवश्यकता है। मैं अपनी बधाई एवं शुभकामनाएँ भेज रहा हूं।

ह०/- राजीव गांधी



राज भवन, जयपुर
दिनांक : १३ माच, १९८७

# सन्देश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि "गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय" हरिद्वार की मासिक शोध पत्रिका "गुरुकुल पत्रिका" का संस्कृति विशेषांक प्रकाशित किया जा रहा है।

मुझे आशा है पत्रिका में भारतीय सभ्यता और संस्कृति की उज्ज्वल छवि गरिमामय स्वरूप में उजागर की जायेगी जिससे युवा पीढ़ी हमारे वैदिक आदर्शों और नैतिक मूल्यों को अपने जीवन में हमेशा के लिए आत्मसात कर सकेगी।

मै पत्रिका के इस विशेषांक के सफल एवं उपयोगी प्रकाशन की कामना करता हूं।

ह०/– वसन्तराव पाटील

Special Secretary To The Governor Of Meghalaya
Raj Bhavan
Shillong—793001
दिनांक : २ अप्रैल, १९८७

# सन्देश

सेवा में,

डा० जयदेव वेदालंकार
सम्पादक, गुरुकुल पत्रिका एवं
अध्यक्ष, दर्शन विभाग
मार्फत गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उत्तर प्रदेश)

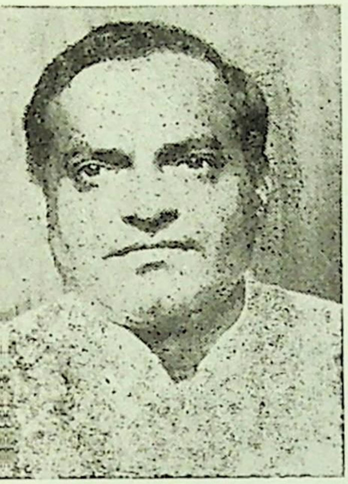
महोदय,

पत्र विलम्ब से मिला। तथापि राज्यपाल जी आपके पत्र के लिए हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

शुभकामनाओं सहित,

भवदीय
ह०/– रवि प्रकाश सिन्हा
राज्यपाल के विशेष सचिव

सचिवालय–एनेक्सी,
लखनऊ
दिनांक : २७ मार्च, १९८७
डी/२७६६/सीएम–२६७



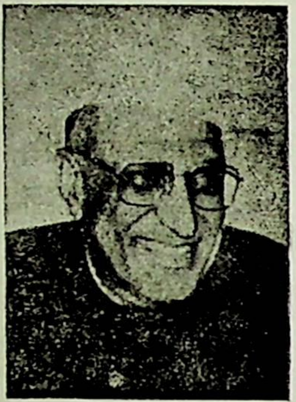
## सन्देश

यह हर्ष की बात है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की मासिक शोध पत्रिका "गुरुकुल पत्रिका" का संस्कृति विशेषांक प्रकाशित हो रहा है।

मुझे विश्वास है कि विशेषांक गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के यश के अनुरूप अत्यन्त उच्च स्तर का होगा और इसमें संकलित सामग्री पाठकों के लिए ज्ञानवर्धक व उपयोगी सिद्ध होगी।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के उन्नयन एवं इसके छात्रों के उज्ज्वल भविष्य के लिए मेरी शुभकामनाएं।

ह०/– वीर बहादुर सिंह



मुख्यमन्त्री, हरियाणा,
चण्डीगढ़
२ मार्च, १९८७

# सन्देश

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार ने अपनी मासिक शोध गुरुकुल पत्रिका का संस्कृति विशेषांक प्रकाशित करने का निर्णय लिया है।

भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराएँ अत्यन्त गौरवशाली हैं। इस देश की संस्कृति और सभ्यता की छाप विश्व के अन्य देशों पर भी पड़ी है। आज समय की माँग है कि हम अपने देश की नई पीढ़ी को इस महान् सांस्कृतिक विरासत से परिचित करवाएं और उन आदर्शों को अपनाने की प्रेरणा दें जो गंगा की पवित्र धारा की तरह सदियों से बहती चली आ रही है।

मुझे आशा है कि आप विशेषांक में गौरवशाली स्वरूप का सम्यक् दिग्दर्शन प्रस्तुत करेंगे।

ह०/- बंसी लाल

S. S. Rey
Governor Of Punjab
Raj Bhavan, Punjab,
Chandigarh—160019
D/- 13-3-87
No. PRB-DSG-87/6966

# MESSAGE

Dear Shri Vedalankar,

Please refer to your letter No. GKL/780, dated 20 2 1987.

The Governor has desired me to extend his greetings and good wishes to the publishers, and the readers of the Gurukul Patrika for the successful publication of the Special Number on Culture.

With best wishes,

Sd/- Amita Paul
Deputy Secretary
to the Governor of Punjab

Dr. Jaidev Vedalankar
Editor, Gurukul Patrika,
Gurukul Kangri University,
Hardwar (U.P.)

राज्य मन्त्री सूचना और प्रसारण
भारत सरकार
पत्र संख्या—१६१८/८७
दिनांक : १३ मार्च, १९८७

## सन्देश

भारतीय संस्कृति अति प्राचीन व महान है। इसका उदय व विकास अनेक संस्कृतियों से मिलकर हुआ है। यह संस्कृति तो सहिष्णुता, सह अस्तित्व, अनेकता में एकता आदि गुणों से ओतप्रोत है। यह इस संस्कृति की महानता व गरिमा है कि इसमें अनेक संस्कृतियाँ उपवन में खिले हुए विभिन्न सुन्दर फूलों की तरह अपनी छटा बिखेर रही हैं।

यह हार्दिक प्रसन्नता की बात है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय अपनी मासिक पत्रिका गुरुकुल का संस्कृति विशेषांक निकाल रहा है। मैं इस कार्य की सराहना करता हूं व अपनी शुभकामनाएँ देता हूं।

ह०/- अजीत कुमार पांजा

Director Public Relations
Haryana, Chandigarh
Phones : 33335 (O) 23447 (R)

मुख्यमन्त्री सैल (हि० संदेश) ४६/८७
दिनांक : ४-३-८७

# सन्देश

महोदय,

आपका माननीय मुख्यमन्त्री जी के नाम सन्देश के लिए अनुरोध-पत्र प्राप्त हुआ। आपके अनुरोध पर मुख्यमन्त्री जी का सन्देश और उनकी पासपोर्ट साइज की एक फोटो इस पत्र के साथ भेजी जा रही है।

शुभकामनाओं सहित,

आपका
ह०/- रणजीत ईसर

डा० जयदेव वेदालंकार,
सम्पादक,
गुरुकुल पत्रिका,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उत्तर प्रदेश)

मध्य प्रदेश शासन
भोपाल, ४६२००४
दिनांक : ३० मार्च, ८७

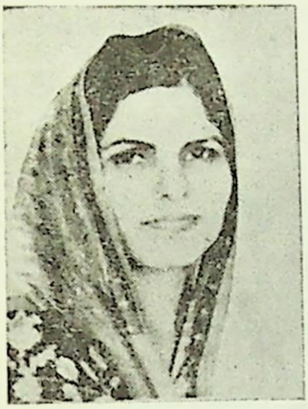
# सन्देश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की मासिक "गुरुकुल पत्रिका" के संस्कृति विशेषांक का प्रकाशन किया जा रहा है।

यह एक जिज्ञासा का विषय है कि हमारे देश के विभिन्न अंचलों में विभिन्न संस्कृतियों का स्रोत क्या है, वे किस प्रकार विकसित हुईं और उनके बीच विभिन्नता में एकता की धारा किस प्रकार प्रवाहित हो रही है। मुझे आशा है कि यह विशेषांक संस्कृति के सम्बन्ध में शोधकर्ताओं के लिए उपयोगी और संग्रहणीय बनेगा।

विशेषांक के प्रकाशन के लिए शुभकामनाएँ।

ह०/- मोतीलाल वोरा



Education Minister,
Haryana, Chandigarh.
Date : 20-3-87

# सन्देश

मुझे हर्ष है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार अपनी मासिक शोध "गुरुकुल पत्रिका" का संस्कृति विशेषांक प्रकाशित कर रहा है।

मुझे आशा है कि विश्वविद्यालय का यह पग इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक सशक्त प्रयास सिद्ध होगा।

मैं इस समारोह की सफलता के लिए शुभकामनाएं भेजती हूं।

ह०/- शारदा रानी

No. 1377-Secy/EM-87

# Message

From

I.K. Grover, HSS (I)
Secretary to Education Minister,
Haryana, Chandigarh.

To

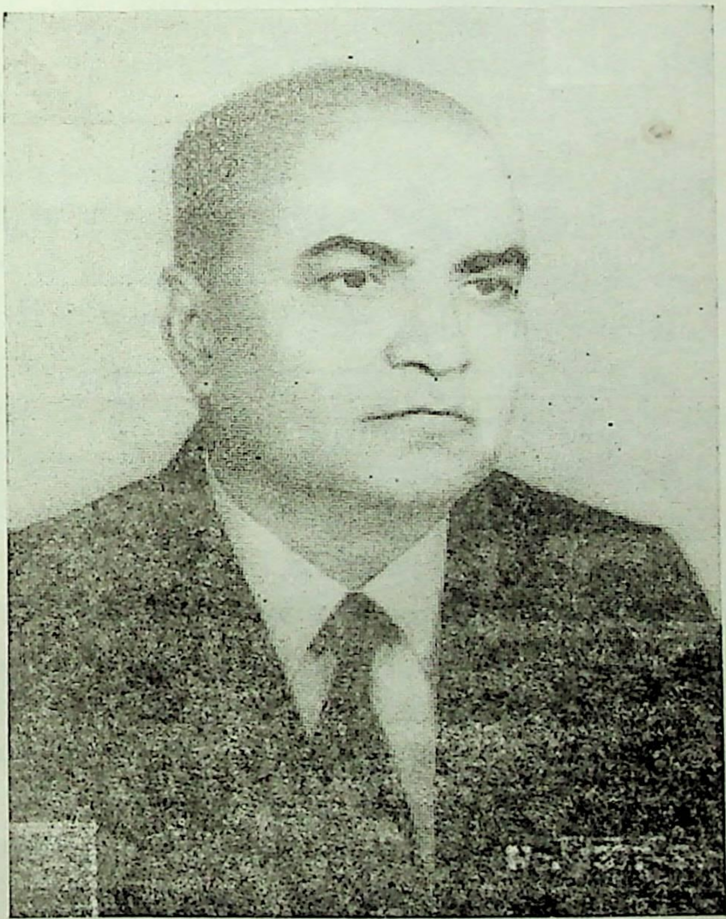
Dr. Jai Dev Vedalankar
Editor,
Gurukul Patrika, Haridwar (U.P.)

Chandigarh March 20th, 1987

Dear Sir,

As desired by you, I send herewith a message of Hon'ble Education Minister for publication in your "Souvenir" alongwith her photograph.

Yours faithfully,
I.K. Grover



प्रो० आर० सी० शर्मा
कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

*भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में—*

# भौतिकवादी युग में वैदिक साहित्य की प्रासंगिकता

**—प्रो० भवानीलाल भारतीय**

प्रायः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आज के भौतिकता प्रधान समाज तथा अध्यात्म विहीन दृष्टि से युक्त मानवता के लिये भारत के पुरातन शास्त्रों की क्या उपयोगिता, महत्ता अथवा प्रासंगिकता है। वेदों का अध्ययन और विवेचन करने वाले पाश्चात्य एवं पौर्वात्य सभी विद्वानों ने संसार के इन प्राचीनतम ग्रन्थों पर विचार करते समय उन्हें समग्र दृष्टि से देखने की अपेक्षा एकांगी दृष्टिकोण से ही परखने का प्रयास किया है। वेदों के मध्यकालीन भाष्यकारों और व्याख्याकारों की दृष्टि में इन ग्रन्थों की उपयोगिता केवल याज्ञिक कर्मकाण्ड को सिद्ध करने के लिये ही है। उनके विचारानुसार ऋग्वेद में उन देवताओं की स्तुतियाँ संगृहीत हैं जिनका यज्ञों के अवसर पर आवाहन किया जाता था तथा जिन्हें प्रसन्न करने के लिए यज्ञवेदी में आहुतियाँ डाली जाती थीं। उनके अनुसार यजुर्वेद तो दर्शेष्टि, पौर्णमासेष्टि, अग्निहोत्र, अश्वमेध, राजसूय, नरमेध आदि विभिन्न यज्ञों को सम्पन्न कराने की विधियों का संकलन मात्र है। उनके मत में सामवेद में ऋग्वेद के ही अधिकांश मन्त्र यज्ञ के अवसर पर गान करने की दृष्टि से संगृहीत किये गये हैं। अथर्ववेद का याज्ञिक विधियों में कोई स्पष्ट प्रयोजन तो नहीं बताया गया, किन्तु इस संहिता में वर्णित विषयों की विविधता को देखते हुए उसकी उपयोगिता को भी स्वीकार किया गया है।

जहां तक पश्चिमी विद्वानों का सम्बन्ध है, उनका वेदाध्ययन भाषा विज्ञान, तुलनात्मक देवगाथावाद, तुलनात्मक धर्म तथा विकासवाद जैसी कतिपय उन विधाओं का आधार लेकर चलता है जिनका विकास एवं पल्लवन विगत शताब्दी में यूरोप में हुआ था। वेद के इन अध्येताओं की दृष्टि मूलतः ऐतिहासिक थी और उनकी दृष्टि में वेद भारत में निवास करने वाली प्राचीन आर्य जाति के जीवन, समाज व्यवस्था, आध्यात्मिक तथा धार्मिक विचारधारा एवं

दार्शनिक चिन्तन का लेखा जोखा उपस्थित करने वाले ग्रन्थ हैं जो शताब्दियों से ब्राह्मणों की परम्परा द्वारा यथावत् सुरक्षित रक्खे गये हैं।

उपनिषदों के सम्बन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य विचारकों के दृष्टि-कोण में प्राय; समानता दिखाई पड़ती है। सायण जैसे वेदभाष्यकार का मानना है कि यदि ऋग्वेदादि की रचना मुख्यता कर्मकाण्ड को ध्यान में रख कर की गई है तो बृहदारण्यकादि उपनिषदों में ज्ञान काण्ड की ही विवेचना हुई है और वे मानव जाति के समक्ष प्रस्तुत उन शाश्वत प्रश्नों को तर्कपूर्ण समीक्षा करते हैं जो अनादि काल से उसके सामने यक्ष प्रश्न की भाँति उपस्थित रहे हैं। इसी प्रकार शॉपनहार जैसे जर्मन विद्वान् की भी यही मान्यता है कि मनुष्य के सम्मुख उपस्थित सभी प्रश्नों तथा शंकाओं का समाधान करने में उपनिषद् सर्वथा सक्षम हैं। वे मनुष्य के वर्तमान जीवन को शान्ति देते ही हैं, उसके मरणोत्तर जीवन को भी सुखी बनाने की क्षमता उनमें है।

यह सब कुछ सही हो सकता है, किन्तु आज का भौतिकवादी सभ्यता से ग्रस्त मानव यह समझने में असमर्थ है कि वेदों और उपनिषदों की शिक्षाएँ वर्तमान संदर्भ में कितनी सार्थक एवं प्रासंगिक हैं। इस प्रश्न पर विचार करने के लिये हमें वैदिक और उपनिषद् साहित्य में विवेचित कुछ ऐसे प्रकरणों की मीमांसा करनी होगी जो हमारे वर्तमान भौतिकवादी समाज के समक्ष प्रस्तुत चुनौतियों का सामना करने में हमारी सहायता करते हों। आज भौतिकवादी सभ्यता ने मनुष्य के अस्तित्व को ही संकटापन्न स्थिति में डाल दिया है। विज्ञान की बेतहाशा उन्नति ने मारक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण को पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त विश्व बारूद के विशाल ढेर पर बैठा हुआ है और अग्नि की एक छोटी सी चिनगारी इसे क्षण भर में विनाश के गर्त में फेंक कर ही दम लेगी। वैज्ञानिक उन्नति तथा भौतिकता-वादी सभ्यता के विकास ने मनुष्य मनुष्य के प्रति बैर, विरोध, अविश्वास तथा घृणा का वातावरण बना दिया है। राष्ट्रों और सत्ता के केन्द्र विभिन्न गुटों के बीच उत्पन्न प्रतिस्पर्धा इतनी बढ़ गई है कि पता नहीं कब संसार को पुनः विश्वयुद्ध की ज्वालाओं में झोंक जाये। आज सबसे बड़ी आवश्यकता मनुष्य मनुष्य के बीच सौमनस्य,मैत्री तथा विश्वास के भाव को पुनः जागृत करने की है। वेद इसी भावना के प्रचार के समर्थक हैं। अथर्ववेद के निम्न मन्त्र में यह आशा प्रकट की गई है कि हम मित्रों और अमित्रों से निर्भय रहें। ज्ञात एवं अज्ञात लोग भी हमें भय रहित करें। रात और दिन के प्रत्येक क्षण में हम निर्भीक होकर विचरण करें तथा सभी दिशाएँ हमारे लिये मित्रवत् हों—

अभयं मित्रादभयं अमित्राद्
ज्ञातादभयं पुरो यः
अभयं नक्तमभयं दिवा नः
सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ।

वस्तुतः यह विश्व मैत्री का भाव ही आज की कठिनाइयों से उबरने की रामबाण औषधि है। इसी भाव को पल्लवित करते हुए यजुर्वेद के निम्न मन्त्र में प्राणि मात्र के प्रति मैत्री भाव रखने का संकल्प प्रकट किया गया है—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे

"मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे" के आदर्श को स्थापित करने की आवश्यकता आज इसलिये और भी अधिक है क्योंकि भौतिकवादी समाज व्यवस्था ने मानव मानव के बीच संदेह और अविश्वास के बीज बोकर सम्पूर्ण वातावरण को ही विषाक्त नहीं बनाया है, अपितु मानवी सभ्यता के विनाश का भी खतरा उत्पन्न कर दिया है।

वस्तुतः संसार की रचना, पालन तथा उसके संहार के पीछे यदि हम किसी आध्यात्मिक शक्ति की सम्भावना को स्वीकार करें तो भौतिकता की विभीषिका से पिण्ड छुड़ाना हमारे लिये सहज हो सकता है। इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के प्रथम मंत्र में ही कहा गया है कि यह सम्पूर्ण विश्व ईश्वर से ही आच्छादित है, ईश्वर के द्वारा आवास करने योग्य है तथा उसके द्वारा रक्षणीय है। विश्व प्रपंच की इस गूढ़ पहेली को सुलझाने के लिये इसी प्रकार के आध्यात्मिक समाधान की आवश्कयता आज सर्वत्र अनुभव की जा रही है।

व्यक्ति की ही भाँति आज परिवार के विघटन तथा पारिवारिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं। भौतिकवादी विचारधारा ने मनुष्य को अधिकाधिक स्वार्थ प्रवण, आत्मकेन्द्रित तथा पर पीड़ा के अनुभव या संवेदना से विरहित कर दिया है। माता, पिता तथा परिवार के अन्य पूज्य पुरुषों के प्रति आदर और सम्मान का भाव नगण्य हो गया है। माता, पिता भी सन्तान के प्रति अपने दायित्व बोध को विस्मृत

कर रहे हैं तथा भौतिक आवश्यकताओं की तीव्र ललक ने साधनों की पवित्रता के आदर्श को सर्वथा ओझल कर दिया है। पुरानी और नई पीढ़ी के बीच के अन्तराल [Generation Gap] की बात कर हम प्रायः अनुशासनहीनता, स्वेच्छाचारिता तथा अनाचार को ही बढ़ावा देते हैं। परिवार के विघटन का जो भयावह रूप आज पश्चिमी समाज में हमें दिखाई देता है उसे देखकर तो यह लगता है कि कहीं यह विध्वंसात्मक प्रक्रिया भारतीय समाज में भी प्रविष्ट न हो जाये। इस संदर्भ में हमें देखना होगा कि वैदिक ग्रन्थ आदर्श-परिवार के निर्माण तथा उसके सदस्यों के पारस्परिक व्यवहार की कौन सी रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। अथर्ववेद के तृतीय काण्ड का तीसवाँ सूक्त इस प्रसंग में हमारा समुचित मार्गदर्शन करता हैं। यहाँ इस बात को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है कि मनुष्यों में परस्पर प्रेम तथा सौमनस्य भाव रहना चाहिए। एक दूसरे के प्रति हमारा ममत्व और स्नेह उसी कोटि का हो, जैसा एक गाय अपने शिशु वत्स के प्रति प्रकट करती है। पुनः पुत्र को माता पिता का आज्ञानुवर्ती होने तथा पत्नी को मधुजिह्वा युक्त तथा शान्ति युक्त वचन बोलने के लिये कहा गया है। भाइयों में परस्पर द्वेष एवं विरोध न हो तथा बहिनों के बीच में भी ईर्ष्या का भाव न रहे। परिवार के सभी प्राणी एक ही व्रत का आचरण करने वाले होकर भद्र एवं कल्याणी वाणी का प्रयोग करें।

भौतिकवादी सभ्यता के विनाशकारी प्रभावों को दूर करने के लिये आज के समाजशास्त्रियों ने विभिन्न विकल्पों तथा समाधानों को प्रस्तुत किया है। प्रायः यह स्वीकार कर लिया गया है कि पूंजीवादी दृष्टिकोण ही हमारी कठिनाइयों और विपत्ति का कारण है। पूंजीवाद के विनाशकारी प्रभाव को दूर करने तथा धन के एकाधिकार को समाप्त करने के लिए संसार में समाजवादी चिन्तन को बल मिला तथा साम्यवादी विचारधारा को अनेक देशों में अपना लिया गया। वस्तुतः समाजवादी चिन्ताधारा को सर्वप्रथम प्रस्फुटित तथा व्याख्यायित करने का श्रेय वेदों को ही है। अथर्ववेद के उपर्युक्त सूक्त में तो मनुष्यों के भोजन एवं जल के स्रोतों को भी समान रूप से प्रयुक्त किये जाने की बात कही गई है। वहाँ यह सुदृढ़ विश्वास व्यक्त किया गया है कि मनुष्य मात्र को समान रूप से कर्त्तव्य भार वहन करने के लिए विधाता ने एक ही प्रकार के (बन्धन) जुए में जोड़ा है। इस प्रकार जब मनुष्य को स्वकर्तव्य पालन के प्रति जागरूक बनाया जायगा तो उसमें मात्र अधिकारों के लिए झगड़ा करने की प्रवृत्ति स्वतः ही समाप्त हो जायगी और मनुष्य की सभ्यता के समक्ष उपस्थित विनाश का संकट भी खत्म हो जायेगा।

भौतिक सभ्यता का एक अन्य विनाशकारी प्रभाव जो हमें दिखाई

पड़ता है, वह है मनुष्य में नितान्त वैयक्तिकता के भावों का दृढ़ीकरण। आज हम समाज के प्रति अपने दायित्व बोध को सर्वथा नकार कर स्वहित को ही सर्वोपरि मानने की गलती कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में यदि हम ऋग्वेद के दशम मण्डल के अन्तिम संज्ञान सूक्त का विचार करें तो हमें समष्टि चेतना को विकसित करने की बहुमूल्य प्रेरणा मिल सकती है। "संगच्छध्वं संवदध्वं" आदि मन्त्र समुदाय हमें साथ चलने, साथ बोलने (अपनी वाणी और अभिव्यक्ति में एकतानता रखने) तथा अपने मनों को एक सा बनाने की प्रेरणा देते हैं। वस्तुत: वेद मनुष्य के समक्ष देवताओं के आदर्शों को अपनाने की बारबार प्रेरणा करता है। अन्यत्र कहा गया है– "देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां" हम देवताओं की कल्याणी मति को प्राप्त करें, तो यहाँ भी इस प्रसंग में दैवी आदर्शों को ही अपनाने की संस्तुति की गई है। देवताओं के भाग अथवा प्राप्य को पाने के अधिकारी हम तभी हो सकते हैं, जब हममें समष्टि हित की उपर्युक्त भावना विकसित हो सके।

भौतिक सभ्यता ने मनुष्य समाज के बीच फूट, विनाश, विघटन तथा शत्रुता के भाव उत्पन्न किये हैं। आज हमारा पारस्परिक विश्वास का भाव समाप्त हो चुका है तथा मानव जाति के भविष्य के प्रति हमारी आस्था भी खत्म हो चुकी है। हम मानवीय सभ्यता की एकात्मता को भुला कर अलग अलग बोलियों में बोलने लगे हैं। सभाओं, समितियों और संगठनों का सर्वत्र प्रसरित जाल मनुष्य को दिग्भ्रमित, किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना रहा है। ऐसी स्थिति में ऋग्वेद का यह सूक्त हमारे विचारों की एकता, हमारे संगठन की एकता, हमारे चित्त एवं मन की एकता की बात करता है। इसी प्रकार मनुष्य की संकल्प-शक्ति तथा उसके मनोभावों की एकता भी यहां अभीष्ट बताई गई है।

भौतिकवादी सभ्यता ने जहाँ हमारे समाज में अनेक विषमताओं तथा बुराइयों को पैदा किया वहाँ हमें अज्ञान, अन्याय तथा अभाव से संघर्ष करने में नितान्त दुर्बल तथा अक्षम बना दिया है। भौतिकवादी सभ्यता का ही यह प्रकट अभिशाप है कि आज हमारे समाज का एक वर्ग शिक्षा और संस्कृति के सर्वोच्च सोपान पर अधिरूढ़ होकर सफलता की चरम सीमा को छू रहा है, वहाँ साधनहीन तथा विपन्न वर्ग के लोग अशिक्षा के गर्त में गिरकर, अज्ञानी रह कर, मध्यकाल की सी स्थितियों में जीवन यापन कर रहे हैं। भौतिक साधनों के विकास तथा सामरिक हथियारों की वृद्धि ने शक्तिशाली राष्ट्रों को दुर्बल तथा विकासशील देशों पर हावी होने, उन पर नानाविध अत्याचार करने के लिए प्रोत्साहित किया है। आर्थिक साधनों का दोहन करने की क्षमता भी समाज के कुछ

गिने चुने लोगों को ही उपलब्ध है। परिणामतः समाज में धनी एवं साधन-सम्पन्न लोगों तथा विपन्न, दरिद्र एवं शोषित लोगों के बीच की खाई बढ़ रही है। विकसित वाणिज्य व्यवसाय तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों के एकाधिकार ने जहाँ योरोपीय तथा अमेरिकी समाज में विलासिता, निर्बाध कामोपभोग तथा परले दर्जे की इन्द्रियपरायणता को बढ़ावा दिया है, वहां पिछड़े और निर्धन राष्ट्रों के लाखों नागरिक अपने राजनैतिक एवं आर्थिक अधिकारों से वंचित होकर शोषण, भुखमरी, महामारी तथा अन्ततः विनाश के शिकार हो रहे हैं। वाणिज्य-व्यवसाय में मशीनों के अत्यधिक उपयोग ने मनुष्य को ही यान्त्रिक नहीं बनाया, उसकी संवेदना तथा सहानुभूति को भी कुण्ठित कर दिया है। फलतः अत्याचार एवं शोषण की पीड़ा को भोगने वाली अशेष मानवता सभ्य देशों की दानवाकार वणिक वृत्ति से त्रस्त, पीड़ित तथा अभिशप्त हो रही है।

वेदों ने मानव जाति को विनाश के मुख में ले जाने वाले उपयुक्त अज्ञान, अन्याय तथा अभाव का सामना करने के लिये एक ऐसी व्यवस्था को जन्म दिया था जिसे आज के संदर्भ में भी सर्वथा प्रासंगिक कहा जा सकता है। अज्ञान के निवारण के लिये ब्राह्मण, अन्याय के प्रतिकार के लिये क्षत्रिय तथा अभावों को दूर करने के लिये वैश्य वर्ग को सन्नद्ध कर वेदों ने समाज में श्रमविभाजन की आदर्श कल्पना को तो मूर्तिमान किया ही, उसने यह भी माना कि मनुष्य समाज में सबकी प्रवृत्तियाँ, शक्तियाँ, रुचियाँ तथा क्षमताएँ असमान होती हैं अतः इच्छा यही है कि स्वरुचि, स्वशक्ति तथा स्वप्रवृत्ति के अनुसार ही मनुष्य को अपने व्यवसाय एवं कार्य को चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाये। यह दूसरी बात है कि कालान्तर में यह वर्णविधान जन्मना आधार पर रूढ़ हो गया जिसके फलस्वरूप समाज को विविध कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने वेद के कतिपय उन स्थलों को उपस्थित किया है जो वर्तमान भौतिकता प्रधान समाज के सम्मुख प्रस्तुत कुछ ज्वलन्त समस्याओं का समाधान कर सकते हैं। आध्यात्मिक प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देने के साथ साथ मनुष्य जाति की लौकिक समस्याओं को विश्वसनीय ढंग से हल करने के उपायों को सुझाने के कारण वेदों को अपरा विद्या का ग्रन्थ कहा गया है। इसके विपरीत ईशादि उपनिषद् शुद्ध पराविद्या—आध्यात्मिक ज्ञान के भण्डार माने जाते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उपषिदों में हमारे सांसारिक पक्ष की अवहेलना की गई है। हम ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र को ही लें।

इसमें जहाँ ईश्वर के सर्वव्यापक होने तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार होने की बात कही गई है, वहां यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि ईश्वर रचित इस सृष्टि में मनुष्य को सर्वथा प्रलोभनहीन होकर ही रहना चाहिये। ईश्वर प्रदत्त वस्तुओं का हम भोग अवश्य करें किन्तु उनमें लिप्त न हों। "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा" इस उपनिषद् वाक्य की ही कालान्तर में गीता में विस्तृत व्याख्या की गई और "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" की बात कही गई। उप-निषद मन्त्र के अन्त में 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' कह कर यह स्पष्ट कर दिया गया कि लालची मनुष्य के लिए इस संसार में सुख की प्राप्ति असम्भव है। वास्तव में भौतिक ऐश्वर्य एवं धन, सम्पत्ति पर एकाधिकार स्थापित करने की कामना ही हमारे विनाश का मूल कारण बन सकती है।

अन्यत्र कठोपनिषद् में भी इस बात जो स्पष्ट कर दिया गया है कि केवल वित्त (धन) से ही मनुष्य की तृप्ति नहीं हो सकती—"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः"। आज की भौतिकवादी सभ्यता धनोपार्जन तथा उसके निर्बाध उपभोग को ही जीवन की चरम सार्थकता मान बैठी है। किन्तु उपनिषद् का स्पष्ट कथन है कि केवल धन और ऐश्वर्य ही मनुष्य को सम्पूर्णतया संतुष्ट नहीं कर सकते। कामोपभोग से कामनायें शान्त नहीं होतीं अपितु अग्नि में ज्वलनशील सामग्री के डाले जाने पर जिस प्रकार वह अधिक तीव्र होती है, उसी प्रकार उपभोग से हमारी कामनाएँ अभिवृद्ध ही होंगी, शान्त नहीं।

संसार को मनुष्य के लिये कर्मक्षेत्र कहा गया है। यहाँ हमें निरन्तर कर्म करते रहना चाहिये। ईशोपनिषद् का यह मन्त्र मनुष्य को शतायु पर्यन्त कर्मनिष्ठ जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

प्रायः देखने में आता है कि भौतिकवाद के प्रसार ने संसार में कुछ ऐसे व्यक्तियों को भी जन्म दिया है जो अकर्मण्य होकर विलासमय जीवन व्यतीत करने के स्वप्न देखते हैं। ऐसे लोग पुरुषार्थ की अपेक्षा भाग्य को ही वरीयता प्रदान करते हैं और आलस्य एवं प्रमाद का जीवन ही जीना चाहते हैं। उपनिषद् की शिक्षा भाग्यवाद तथा अकर्मण्यता का घोर विरोध करती है और मनुष्य को कर्मठ जीवन व्यतीत करने के लिए कहती है। 'क्रतुमयोऽयं पुरुषः' की सूक्ति के अनुसार मनुष्य का कर्मशील होना ही उसका सबसे बड़ा गुण है।

इसी प्रकार उपनिषद् आत्महत्या को घोर पाप मानते हैं। आज की भौतिकता प्रधान संस्कृति में रहने वाला मनुष्य जब अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में स्वयं को असफल मानता है तो वह तुरन्त आत्महत्या का रास्ता चुनता है। उपनिषद् के विचारानुसार आत्महनन करने वाले व्यक्ति तो उन असुरलोकों की ओर ही जाते हैं जो अज्ञान तमसाछन्न हैं। उपनिषदों का आशावाद आत्महत्या, आत्म पीड़न और आत्म ग्लानि के सर्वथा विरुद्ध है।

कर्म और ज्ञान के समन्वय का उपदेश देकर उपनिषद् ने हमारी सभ्यता के सम्मुख प्रस्तुत एक और चुनौती का उत्तर दिया है। भारतीय सभ्यता को यदि अपने वैचारिक मानदण्डों तथा उच्चस्तरीय दार्शनिक चिन्तन पर गर्व है तो पश्चिम के लोग अपनी गतिशीलता तथा कर्ममय जीवनी शक्ति पर गर्व का अनुभव करते हैं। हमारे देश ने विश्व को प्रबुद्ध चिन्तक, विचारक तथा दार्शनिक प्रदान किये हैं, जब कि पश्चिम ने ज्ञान विज्ञान, कला कौशल, शिल्प और वाणिज्य के क्षेत्र में उच्चकोटि की उपलब्धियाँ प्राप्त करने वाले पुरुषों को जन्म दिया है। आज की सामाजिक व्यवस्था में ज्ञान और कर्म दो सुदूरवर्ती छोरों पर खड़े दिखाई देते हैं। भौतिकवाद ने लोगों को इतना अधिक ग्रस्त कर लिया है कि वे जीवन की कार्मिक व्यस्तताओं से क्षण भर के लिये भी अवकाश प्राप्त नहीं कर पाते और रात दिन अर्थ प्राप्ति की हाय हाय में लगे रहते हैं। विशेषत: महानगरीय जीवन तो आज की सभ्यता का नितान्त विकृत एवं अभिशप्त रूप पेश करता है, जहाँ लोग मुँह अँधेरे उठ कर जीविकोपार्जन में लग जाते हैं और रात्रि को उस समय घर लौटते हैं जब कि संसार सोने की तैयारी करता है। ऐसे व्यस्त एवं व्याकुल जीवन में मनुष्य मनन, चिन्तन तथा निदिध्यासन के लिये समय कैसे निकाल सकता है? इसी विडम्बनात्मक स्थिति का समाधान करने के लिये हमारे पुरातन ऋषियों ने उपनिषद् साहित्य में ज्ञान और कर्म के समन्वय पर जोर देते हुए स्पष्ट किया है कि 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते'। अर्थात् कर्मशील जीवन को धारण कर यदि हम मृत्यु मुख से छूटते हैं तो विद्या (ज्ञान) के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करते हैं।

उपनिषदों का आधुनिक भौतिकवादी समाज के लिये यदि कोई महत्त्व-पूर्ण संदेश है तो वह निम्न मन्त्र के द्वारा ही प्रस्तुत किया जा सकता है—

> हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
> तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

—दयानन्द शोध पीठ,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

# श्री अरविन्द का संस्कृति दर्शन

—डा० रामनाथ शर्मा
डी०फिल्०, डी०लिट्०
अध्यक्ष, दर्शन विभाग, मेरठ कालिज

संस्कृति और सभ्यता सामाजिक विकास के मानव द्वारा विकसित साधनों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण साधन हैं। इनसे मानव के भौतिक, जैविकीय और मानसिक जीवन में अभूतपूर्व विकास होता है। श्री अरविन्द अन्य विचारकों के साथ यह स्वीकार करते हैं कि सभ्यता की प्रक्रिया में आगे बढ़ने के लिए मनुष्य को कुछ अनिवार्य मूल्य चुकाना पड़ा है किन्तु वे इसे संस्कृति का दोष नहीं मानते। उनके अनुसार संस्कृति के जो तथाकथित दोष बताये जाते हैं वे उस तत्व के कारण होते हैं जो कि उसका आधार बनाया जाता है। इस दृष्टि से भौतिक, प्राणात्मक, बौद्धिक और आध्यात्मिक संस्कृतियों में अन्तर किया जा सकता है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "किसी भी जनसमुदाय की संस्कृति जीवन की एक चेतना की अभिव्यक्ति के रूप में वर्णन की जा सकती है जोकि तीन पहलुओं में दिखलाई पड़ती है। एक पहलू रचनात्मक आत्माभिव्यक्ति, सौन्दर्य बोध, बुद्धि और कल्पना का पहलू है, और एक पहलू व्यावहारिक तथा बाह्य निर्माण का पहलू हैं।"[1] इस प्रकार संस्कृति जीवन की चेतना है जो सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं, कला, साहित्य, दर्शन, नीति और धर्म आदि से बनती है। दर्शन मन का संस्कार करता है। धर्म संकल्प का परिष्कार करता है और कल्पना, बोध तथा प्राणात्मक तत्व में परिवर्तन करता है। रचनात्मक बुद्धि, कला, काव्य और साहित्य, की ओर ले जाती है। सामाजिक और राजनीतिक संस्थायें बाह्य जीवन का क्षेत्र निर्माण करती हैं। इन सबमें सांस्कृतिक तत्व का मूल-आधार आंतरिक आत्मा है, इनमें से कोई भी आत्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं है।

## प्राणमय तत्व का महत्व

प्राणमय तत्व प्रत्येक संस्कृति के लिये आवश्यक है। श्री अरविन्द ने

स्पष्ट लिखा है, "कोई भी प्राणतत्व–विरोधी संस्कृति जीवित नहीं रह सकती।"[2] जीवन बनाये रखना किसी भी संस्कृति की श्रेष्ठता की सबसे कठोर और सबसे अनिवार्य परीक्षा है। अस्तित्व मानव जीवन का प्रथम नियम है। बिना शक्तिशाली प्रेरणा के कोई भी संस्कृति जीवित नहीं रह सकती चाहे विज्ञान, दर्शन, धर्म, कला और साहित्य के क्षेत्र में उसने कितनी भी प्रगति क्यों न की हो। प्रत्येक श्रेष्ठ संस्कृति को मानव विकास में सहायक होना चाहिये, उसे मनुष्य की पार्थिव क्रियाओं में प्रेरणा देनी चाहिए। उसे मनुष्य को, "विकास की एक शक्ति और जीवित रहने का एक संकल्प" प्रदान करना चाहिए। उसे, "पृथ्वी पर प्रजाति की महानता और बुद्धि"[3] प्राप्त करने में सहायता देनी चाहिए। उससे जीवन का एक दृढ़ और सफल संगठन सम्भव होना चाहिए। ये सब कार्य संस्कृति में प्राणमय तत्व पर निर्भर होते हैं। अस्तु, कोई भी संस्कृति जो समुदाय के अस्तित्व, वृद्धि और पूर्णता की ओर नहीं ले जाती श्रेष्ठ संस्कृति नहीं कहला सकती। श्री अरविन्द ने स्पष्ट लिखा है, "जबकि एक संस्कृति का प्रथम मूल्य आत्मा के विकास की उसकी शक्ति है, उसकी उपयुक्तता तब तक पूर्ण नहीं होती जब तक वह उसके बाहरी अस्तित्व का निर्माण नहीं करती और उसे उच्च तथा महान् आदर्शों की ओर विकासमान नहीं बनाती।"[4]

## नैतिक तत्व का महत्व

प्राणमय तत्व के अतिरिक्त नैतिक तत्व भी संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। कुछ विचारकों ने संस्कृति को विचार, ज्ञान और सौन्दर्य की श्रेष्ठता माना है और उसमें आचार तथा चरित्र का परिष्कार आवश्यक नहीं माना। कुछ अन्य विचारक आचार तथा चरित्र को श्रेष्ठता को ही संस्कृति की एकमात्र कसौटी मानते हैं और अन्य प्रकार की श्रेष्ठता आवश्यक नहीं मानते। यूनान में दर्शन, कला, धर्म और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सौन्दर्य को ही संस्कृति का सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व माना गया। सौन्दर्य और शुभ की खोज मानव प्रकृति के दो भिन्न पहलुओं की माँग है। सौन्दर्य की खोज संवेदनात्मक पहलू की खोज है और संकल्प, आचार तथा चरित्र शुभ की खोज करते है। नैतिक व्यक्ति कला और साहित्य को कठोर आत्मनियन्त्रण में बाधक मानता है और इस प्रकार बहुधा कठोरतावादी बन जाता है। दूसरी ओर सौन्दर्य को महत्व देने वाला व्यक्ति नैतिक नियम को सौन्दर्य की खोज में बाधक पाकर सुखवादी बन जाता है। वह शुभ को सौन्दर्य का साधन मानता है

जबकि नैतिक व्यक्ति सौन्दर्य को शुभ का साधन मानता है। इस प्रकार के विरोधी विचार न केवल व्यक्तियों में बल्कि समाजों और राष्ट्रों में भी पाये जाते हैं। रोम और स्पार्टा नैतिक संस्कृति के उदाहरण हैं और उनके इतिहास को देखने से संस्कृति में नैतिक तत्व की सीमायें पता चलती हैं। स्पार्टा और रोम में जीवन का आनन्द बहुत कम था। दर्शन, कला, साहित्य और ज्ञान को कोई विशेष स्थान नहीं दिया गया था। सौन्दर्य-बोध और स्वतन्त्र विचार शंका की दृष्टि से देखे जाते थे। रोम में सब प्रकार की यूनानी कला और भाषा, शिक्षा और विचार का बहिष्कार किया गया। स्पार्टा ने केवल सैनिक संगीत और काव्य को मान्यता दी और इसके लिए भी एथेन्स के नागरिक बुलाये गये। इसी प्रभाव के कारण प्लेटो ने अपने आदर्श जनतन्त्र में काव्य को कोई स्थान नहीं दिया। स्पार्टा के जीवन में कुछ भी ऐसा नहीं था जो मानव को आकर्षित करे। रिपब्लिकन रोम का साम्राज्यवादी रोम में भारी पतन हुआ। नैतिक संस्कृति की सबसे बड़ी भूल विकास की स्वतन्त्रता को सीमित करना था। श्री अरविन्द के शब्दों में, "मानव मस्तिष्क चिन्तन, अनुभूति, आनन्द और विस्तार चाहता है, विस्तार उसका स्वभाव ही है और बाधा उसमें वहीं तक लाभदायक है जहाँ तक कि वह उसके विस्तार को स्थायी बनाने, निर्देशित करने और दृढ़ बनाने में आवश्यक हो।"[5]

## सौन्दर्यात्मक तत्व का महत्व

सौन्दर्यात्मक संस्कृति का उदाहरण प्राचीन एथेन्स म मिलता है। एथेन्स के इतिहास के विकास में दो स्पष्ट भिन्न युग दिखलाई पड़ते हैं। पहला फीडियास और सोफोक्लीज का एथेन्स और दूसरा दार्शनिकों का एथेन्स। पहले में कला और सौन्दर्य पर जोर दिया गया और दूसरे में विचार पर। पहले में सौन्दर्य, स्वतन्त्रता तथा जीवन के आनन्द ही निर्णायक शक्तियाँ थीं। विचार तक कला और साहित्य के रूप में था। बौद्धिक विवादों का लक्ष्य चिन्तन का आनन्द प्राप्त करना और विचारों का सौन्दर्य था। इसमें नैतिकता की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। वह रूढ़िगत और परम्परागत थी। उसे सौन्दर्य के शब्दों में ही अभिव्यक्त किया जाता था। धर्म तक सौन्दर्यात्मक अनुभूति से जुड़ा हुआ था। सौन्दर्य के आनन्द की इस खोज में किसी भी प्रकार का ऊँचा या दृढ़ अनुशासन नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि एक शताब्दी के अन्दर-अन्दर एथेन्स में समस्त जीवन, संकल्प और रचनात्मकता समाप्त हो गयी। सौन्दर्यवादी संस्कृति की यह दुर्बलता पुनर्जागरण के इटली में भी दिखलाई

पड़ती है। यहाँ भी कला, साहित्य और सौन्दर्य की ओर विशेष ध्यान दिया गया और विचार तथा आचार की अवहेलना की गयी। अनैतिक और दुर्बल सौन्दर्य-वादी संस्कृति ने इटली की कमर तोड़ दी क्योंकि जहाँ मानव-जीवन में सौन्दर्य के विकास का मूल्य है वहाँ संकल्प, चरित्र, आत्मानुशासन और आत्मनियन्त्रण ही उसको सीधा खड़ा रखते हैं। इनकी अनुपस्थिति में उसका विकास नहीं हो सकता।

## समन्वयात्मक तत्व की आवश्यकता

नैतिक और सौन्दर्यवादी संस्कृतियों की असफलताओं के मूल में यह मनोवैज्ञानिक तथ्य छिपा है कि ये दोनों ही मानव प्रकृति के दो महत्वपूर्ण तत्वों पर आधारित हैं जिनमें से किसी का भी बहिष्कार नहीं किया जा सकता। अस्तु, मानव के सामाजिक विकास में स्थायी रूप से सहायक होने के लिये संस्कृति को मानव मनोविज्ञान में ऐसे तत्व पर आधारित होना चाहिए जो कि सम्पूर्ण मानव को संतुष्ट, समन्वित और संकलित करे। इसके अतिरिक्त किसी भी अन्य तत्व पर संस्कृति को आधारित करने से उसके पतन और बर्बरता के उदय की सम्भावना बराबर बनी रहती है। बर्बरता का उदय भूतकाल में इतना विनाशकारी नहीं था जितना कि भविष्य में होगा क्योंकि विज्ञान की सहायता से मानव ने आज ऐसे अस्त्र-शस्त्रों का अविष्कार कर लिया है कि उनके बर्बरता द्वारा प्रयोग से समस्त मानव जाति के विनाश का खतरा है। अस्तु, यह आवश्यक हो जाता है कि संस्कृति को ऐसे तत्व पर आधारित किया जाये जो स्थायी रूप से समन्वयात्मक तत्व हो। इसमें नैतिक और सौन्दर्यात्मक दोनों ही प्रकार के तत्वों को स्थान दिया जायेगा। संकल्प, चरित्र और अनुशासन आत्मपूर्णता की प्राथमिक दशाएं हैं। सौन्दर्यबोध भी इसके लिए अत्यन्त आवश्यक है। नैतिकता और सौन्दर्यबोध दोनों के समन्वय से जीवन में समृद्धि और शक्ति तथा आनन्द आगे बढ़ते हैं।

## बौद्धिक संस्कृति की सीमायें

यह समन्वयात्क तत्व विभिन्न तत्वों का समझौता नहीं है क्योंकि यह समझौता कभी न कभी टूट सकता है। कुछ विचारक बुद्धि को इस प्रकार का समन्वयात्मक तत्व मानते हैं। मानव विकास की वर्तमान स्थिति में बुद्धि

निश्चय ही सर्वोच्च तत्व है। वह ज्ञान का एकमात्र साधन ही नहीं है बल्कि अनेक पहलुओं में भी अन्य साधनों से श्रेष्ठ है। किन्तु उसकी सत्ता सदैव अपूर्ण रहती है। कुछ अन्य तत्व उसके प्रतिद्वन्द्वी के रूप में प्रकट होते हैं। उदाहरण के लिए, आस्था बुद्धि की प्रतिद्वन्द्वी रही है। इसी प्रकार कल्पना, संवेग, नैतिकता और सौन्दर्य–बोध ने बुद्धि के नियन्त्रण के विरुद्ध समय–समय पर विद्रोह किया है। मानव के व्यापक और जटिल अस्तित्व के बुद्धि द्वारा नियन्त्रण के प्रयास सदैव असफल रहे हैं। बुद्धि के विरुद्ध जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उठने वाले विद्रोह यह दिखलाते हैं कि बुद्धि समन्वयात्मक तत्व नहीं है। जीवन उसकी व्यवस्थाओं और सिद्धान्तों की पकड़ में नहीं आता। बौद्धिक व्यवस्था केवल वहीं तक काम दे सकती है, जहाँ तक हमारा लक्ष्य पूर्ण सत्य नहीं है। बुद्धि अमूर्तकरण, विभाजन, विश्लेषण और साधारणीकरण के द्वारा कार्य करती है। वह विचारों और तथ्यों में खाई बनाती है जिसे वह भर नहीं सकती। उसके सिद्धान्त केवल कामचलाऊ उपकल्पनायें मात्र होते हैं। जीवन में उसके महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता किन्तु वह मानव प्रकृति को पूर्ण सन्तोष नहीं दे सकती। उसके द्वारा प्राप्त हुई ऊँचाइयों गहराइयाँ नहीं होतीं। नैतिक और सौन्दर्यवादी तत्व के अतिरिक्त कुछ विचारकों ने बौद्धिक तत्व को संस्कृति का आधार बनाने का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। किन्तु बौद्धिक मनुष्य सम्पूर्ण मनुष्य नहीं है और इसलिए बौद्धिक संस्कृति सम्पूर्ण संस्कृति नहीं हो सकती। फिर भी यह अवश्य है कि मानव के सांस्कृतिक विकास में बौद्धिक संस्कृति एक उच्चतर सोपान है। इसने मनुष्य को आगे बढ़ाया है किन्तु वर्तमान स्थिति में यह पर्याप्त साधन नहीं है। मानव के सामाजिक विकास में प्रकृति का तरीका यह रहा है कि एक विशेष तत्व को उठाकर उसकी सर्वोच्च ऊँचाई तक ले जाया जाए और उसकी कठोर परीक्षा की जाये तथा उसमें उसके असफल होने पर ही उसके स्थान पर किसी उच्चतर तत्व की स्थापना की जाए। मानव का वर्तमान सांस्कृतिक संकट यह दिखलाता है कि बुद्धि जीवन का नियामक तत्व नहीं हो सकती। जैसे स्पार्टा और एथेन्स के पतन क्रमशः नैतिक तत्व और सौन्दर्यवादी तत्व की सीमायें दिखलाते हैं, उसी प्रकार आधुनिक बौद्धिक संस्कृति की कठिनाइयाँ बुद्धि की सीमायें दिखलाती हैं। मानव के सांस्कृतिक विकास में अनुभूति, संकल्प और बुद्धि इन तीन तत्वों को क्रमशः मानव संस्कृति का आधार बनने का अवसर दिया गया। इनकी असफता का अर्थ यह नहीं है कि ये व्यर्थ हैं और इनका पूर्ण बहिष्कार किया जाना चाहिए। इतिहास केवल यही बतलाता है कि ये मानव जीवन के सर्वोच्च तत्व नहीं हैं और इनको जीवन में इनका विशिष्ट स्थान दिया जाना चाहिए।

## विभिन्न संस्कृतियों का मूल्यांकन

इस प्रकार श्री अरविन्द ने नैतिक संस्कृति, सौन्दर्यात्मक संस्कृति और बौद्धिक संस्कृति का ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके यह दिखलाने का प्रयास किया है कि इनके मूल में जो तत्व काम करते हैं वे जीवन के आवश्यक तत्व होते हुए भी समन्वयात्मक तत्व नहीं हैं और इसलिये इनमें से प्रत्येक का पतन हुआ और कोई भी मनुष्य को स्थायी सन्तोष नहीं दे सका। जैसा कि पीछे बतलाया जा चुका है, वर्तमानकाल में मानव एक ऐसी स्थिति पर पहुंच गया है जबकि एकांगी विकास का कोई प्रयोग नहीं किया जा सकता क्योंकि इसमें संस्कृति के विनाश और बर्बरता के उदय का खतरा है और ऐसे किसी भी नये खतरे को झेलने के लिये मानव जाति तैयार नहीं है क्योंकि इसमें उसके विनाश की सम्भावना है। अस्तु, श्री अरविन्द ने आध्यात्मिक संस्कृति अथवा संस्कृति के आध्यात्मिक आधार का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। श्री अरविन्द के अनुसार किसी भी सच्ची संस्कृति का आधार न तो जैविकीय मूल प्रवृत्ति और न अनुभूति, संकल्प, बुद्धि, धार्मिक प्रेरणा अथवा आध्यात्मिक दृष्टिकोण ही हो सकते हैं। कला, नैतिकता, दर्शन, धर्म, साहित्य अथवा कोई भी अन्य तत्व अकेले या कुछ तत्व मिलकर मनुष्य को सन्तोष नहीं दे सकते। वह अस्थायी रूप से भले ही उनमें कुछ सन्तोष अनुभव करे किन्तु जब वह उनकी सीमाओं को जान जाता है तो वह उनमें सन्तोष नहीं पा सकता और उन्हें छोड़कर किसी अधिक सर्वांग तथा समन्वयकारी तत्व की खोज में आगे बढ़ जाता है।

## आध्यात्मिक संस्कृति और मानव का भविष्य

अस्तु, श्री अरविन्द भूतल पर आध्यात्मिक मानव संस्कृति की स्थापना का आदर्श उपस्थित करते हैं। उनकी यह धारणा मानव संस्कृति के इतिहास के विवेचन मात्र पर आधारित नहीं है यद्यपि इससे उन्होंने सहायता अवश्य ली है। श्री अरविन्द ने मानव संस्कृतियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है और उनके मूल में छिपे हुए उन मनोवैज्ञानिक तत्वों की गतिविधि का विश्लेषण किया है जो कि मानव विकास को आगे बढ़ाते हैं। आध्यात्मिक संस्कृति से श्री अरविन्द का तात्पर्य संस्कृति के किसी विशेष रूप से नहीं है। श्री अरविन्द ने सब कहीं विविधता में एकता के सिद्धान्त को मान्यता दी है। परम तत्व एक है किन्तु उसकी अभिव्यक्तियाँ अनेक हैं और इन अनेक अभिव्यक्तियों में से किसी को भी दूसरी से कम नहीं कहा जा सकता। श्री

अरविन्द के शब्दों में, "प्रत्येक राष्ट्र मानवता में विकासमान पुरुष की एक शक्ति है और उस तत्व को लेकर जीवित है जो कि उसमें शामिल है।"[6] इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र की एक वैयक्तिकता है, उसका एक स्वधर्म है और उसे उसी के अनुसार जीना चाहिये। जो लोग यह सोचते हैं कि आध्यात्मिकता किसी विशेष राष्ट्र की सम्पत्ति है वे भारी भूल करते हैं। श्री अरविन्द ने स्पष्ट लिखा है, "आध्यात्मिकता भारत का एकाधिकार नहीं है, चाहे वह बुद्धिवाद अथवा अन्य आवरणों में कितना ही अधिक क्यों न छिपा हो वह मानव प्रकृति का एक अनिवार्य अंग है।"[7] इस प्रकार किसी न किसी अर्थ में न्यूनाधिक रूप से आध्यात्मिकता संसार में सब कहीं पाई जाती रही है। फिर, भारतीय संस्कृति को ही विशेष रूप से आध्यात्मिक संस्कृति क्यों कहा गया है। इसका कारण यह है कि यहाँ पर आध्यात्मिकता को आन्तरिक और बाह्य जीवन में सब कहीं निर्णायक शक्ति माना गया जबकि अन्य संस्कृतियों में उसे अपेक्षाकृत गौण स्थान दिया गया है।

आध्यात्मिक संस्कृति को मानव का लक्ष्य मानने से श्री अरविन्द का तात्पर्य यह नहीं है कि संसार में सब कहीं किसी अकेली एकरस संस्कृति की स्थापना की जाये। आध्यात्मिक संस्कृति के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये प्रत्येक संस्कृति को अपनी तरह से और अपनी राह में आगे बढ़ना होगा। वर्तमान स्थिति में वे भले ही परस्पर विरोधी दिखलाई पड़ती हों किन्तु आध्यात्मिक स्तर पर पहुंचकर यह विरोध समाप्त हो जायेगा, क्योंकि इस स्तर पर परस्पर विरोधी परस्पर पूरक बन जाते हैं। किन्तु इससे विविधता समाप्त नहीं होगी। विविधता मानव की सांस्कृतिक समृद्धि का अनिवार्य लक्षण है। नीति, धर्म, कला, साहित्य, शिक्षा, सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विविधता समृद्धि का लक्षण है। इस विविधता को हटाकर एकता बनाने का विचार जीवित तत्व के स्थान पर मृतक की स्थापना करने जैसा है। अस्तु, संसार में प्रत्येक साहित्य, भाषा, कला, दर्शन, समूह, समाज और राष्ट्र को अपने मार्ग पर आगे बढ़ना है, अपने स्वधर्म का पालन करना है। किसी को किसी का अनुकरण करने की आवश्यकता नहीं है। विविधता के कारण इनमें जो द्वन्द्व दिखलाई पड़ते हैं वे आध्यात्मिक स्तर पर स्वयं ही समाप्त हो जायेंगे।

श्री अरविन्द के अनुसार किसी भी संस्कृति की प्राणशक्ति तीन तत्वों पर निर्भर होती है--एक तो जीवन की एक मूल धारणा उपस्थित करने की शक्ति, दूसरे, जीवन के विभिन्न रूपों में प्रकट होने की शक्ति और तीसरे, व्यक्ति और समुदाय के वास्तविक जीवन में अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने की

शक्ति। संस्कृति को एक भौतिक आधार ही प्रदान नहीं करना है बल्कि व्यक्ति और समुदाय के भावी विकास के आदर्श, प्रेरणायें और विधियाँ भी प्रस्तुत करनी हैं। उसका भौतिक योगदान कितना भी महत्वपूर्ण क्यों न हो किन्तु उससे उसकी सफता या असफलता का निश्चय नहीं होता। संस्कृति का मूल लक्षण मानव का संस्कार, उसको ऊँचा उठाना है। वास्तविक जीवन में आदर्श और यथार्थ में बराबर खाई दिखलाई पड़ती है और कोई भी संस्कृति आज तक एक ऐसी व्यवस्था प्रस्तुत करने में सफल नहीं हुई जिससे मनुष्य की सर्वांग पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त हो सके। प्रत्येक संस्कृति की अपनी सीमायें और अपूर्णतायें रही हैं। जिन संस्कृतियों ने जितने ही ऊँचे आदर्श उपस्थित किये उनमें उन आदर्शों को प्राप्त करने में उतनी ही अधिक कठिनाईयाँ रही हैं। अस्तु, मानव के लम्बे सांस्कृतिक इतिहास में किसी भी युग में वह अर्धसांस्कृतिक से अधिक कुछ नहीं बन सका है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह सांस्कृतिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। इससे केवल यही प्रकट होता है कि सांस्कृतिक विकास को आगे बढ़ाने के लिए उसके आधार में किसी अधिक शक्तिशाली तत्व की आवश्यकता है। मानव का वर्तमान सांस्कृतिक संकट इस तत्व के अभाव के कारण ही उपस्थित हुआ है और इस प्रकार के तत्व को जीवन का आधार बनाने से ही यह संकट टल सकता है। शिक्षा, नैतिकता अथवा धर्म के माध्यम से थोड़ा बहुत सुधार हो सकता है किन्तु सामाजिक विकास के आदर्श को पूर्णतया प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिये समस्त मानव जाति के रूपान्तर की आवश्यकता है। इसके लिये एक आंतरिक क्रांति होनी चाहिये। यह क्रांति कितनी भी कठिन अथवा असंभव क्यों न लगती हो किन्तु यह किये बगैर मानव का भविष्य प्रकाशमय नहीं हो सकता। जब पाशविक स्तर से मानव बुद्धि के स्तर पर आया तब भी ऐसी ही क्रांति हुई थी और उस समय भी मानव पशु यह विश्वास नहीं कर सकता था कि कभी वह बौद्धिक स्तर पर पहुंचने की क्रांति सम्भव बना सकेगा। अस्तु, निराशा का कोई कारण नहीं है।

मानवता के इस भावी विकास में प्रत्येक राष्ट्र को जहाँ एक ओर आत्मसाक्षात्कार करना है, वहाँ दूसरों की वृद्धि में भी सहायता देना है। अन्तर्क्रिया सब कहीं सांस्कृतिक वृद्धि की मूल प्रक्रिया है भले ही यह व्यक्तियों के बीच हो, समूहों के मध्य हो या राष्ट्रों में हो। मनुष्य अन्य मनुष्यों से अलग रहकर आध्यात्मिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। यह बात व्यक्ति और राष्ट्र दोनों पर लागू होती है। स्वधर्म पहली आवश्यकता है। कुछ समय तक व्यक्ति और राष्ट्र केवल अपने ही सत्य के सहारे आगे बढ़ सकते हैं। कुछ काल तक एक संस्कृति अन्य संस्कृतियों से सम्पर्क के बिना भी आगे बढ़ सकती है किन्तु यह

अलगाव अधिक समय तक सम्भव नहीं है, और आज जब दुनिया इतनी छोटी हो गई है तो कोई भी व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र अन्य से अलग रहकर अपना विकास नहीं कर सकता। अस्तु, विभिन्न संस्कृतियों की अन्तर्क्रिया का अर्थ अनुकरण नहीं है, बल्कि अदान–प्रदान में प्रत्येक संस्कृति को देना लेना है, भले ही वह विकास के क्रम में अन्य से कितनी भी आगे क्यों न हो। यह परस्पर अनुक्रिया जीवन की प्रकृति है। इसी के माध्यम से विविधता में एकता बनती है। यही प्रत्येक संस्कृति का नियम होना चाहिये। श्रेष्ठता या निम्नता एक सापेक्ष स्थिति है। विशिष्ट संस्कृति विशिष्ट पहलू में अन्य संस्कृतियों से श्रेष्ठ होते हुए भी अन्य पहलुओं में निम्न होती है। अस्तु, पूर्व और पश्चिम के मिलन और सक्रिय सहयोग से ही भूतल पर आध्यात्मिक संस्कृति की स्थापना के आदर्श को प्राप्त किया जा सकता है। इसी में मानव के उज्ज्वल भविष्य को प्राप्त करने की सम्भावना निहित है।

## संदर्भ


१– श्री अरविन्द, द फाउण्डेशन आव इण्डियन कल्चर, श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी, [१९५९], पृष्ठ ५९

२– वही, पृष्ठ १०६

३– वही, पृष्ठ १०७

४– श्री अरविन्द, द फाउण्डेशन आव इण्डियन कल्चर, पृष्ठ ३६५

५– द ह्यूमन साइकिल, पृष्ठ १०७

६– द फाउण्डेशन आव इण्डियन कल्चर, पृष्ठ ५

७– द ह्यूमन साइकिल, पृष्ठ १४

'बृहस्पति' का सांस्कृतिक रूप--

# पिण्ड में—बृहस्पति आत्मज्योति-प्रकाशक

—भगवद्दत्त वेदालंकार
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

बृहत् सृष्ट्युत्पत्ति में बुद्धि सर्ग का आदिरूप है। बुद्धि सर्ग ज्योतिष्पुञ्ज है, सबका प्रकाशक है। अतः आत्मज्योति को भी यह सर्वोत्तम रूप में प्रकाशित करने वाला है। बृहस्पति के लिए ऋ० ४।५०।५ में आता है कि "वि सप्तरश्मिरधमत् तमांसि" अर्थात् सप्तरश्मि–सप्तेन्द्रिय वाला यह बृहस्पति शरीर व ज्ञानेन्द्रियों के तमों, अंधकारों को धौंकनी देकर बाहिर कर देता है। ऋ० २।२३।२ में आता है, "उस्रा इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि" जिस प्रकार सूर्य से किरणें बाहिर की ओर निकलती हैं उसी प्रकार बृहस्पति की ज्योति से समग्र ब्रह्म शक्तियाँ तथा मन्त्रादि का प्रकाश होता है। ऋ० २।२४।३ में कहा गया है—"अगूहत् तमो व्यचक्षयत् स्वः" "अर्थात् वह बृहस्पति तम को छिपा देता है अर्थात् नष्ट कर देता है और स्वः अर्थात् आत्म तत्व को प्रकाशित कर देता है।

गो उ० ४।११ में कहा गया है कि "यच्चक्षुः सः बृहस्पतिः" अर्थात् जो चक्षु है, प्रकाशक है, ज्योतिरूप है, वह बृहस्पति है। यह बृहस्पति आत्मा की ज्योति को प्रकाशित करने वाला है। आत्मज्योति का प्रकाश किस प्रकार होता है यह हम सामान्य भाषा में दर्शाने का प्रयत्न करते हैं।

स्थूलदृष्टि से मनुष्य को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। एक

भाग आत्मा और दूसरा भाग प्रकृति। अर्थात् आत्मा प्रकृति=पुरुष। मनुष्य में आत्मा को छोड़कर स्थूल शरीर इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि जो घटक हैं वे सब प्राकृतिक हैं अर्थात् प्रकृति से बने हैं। आत्मा एक ज्योति है, इस आत्मज्योति का सम्पर्क करके ये इन्द्रियाँ आदि प्राकृतिक तत्व ज्योतिष्मान् हो जाते हैं। इनमें अपनी ज्योति तो होती नहीं, इसलिये ये आत्मज्योति को ही प्रतिबिम्बित करते हैं। इसको हम लैम्प के उदाहरण से अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। जिस प्रकार लम्प में चिमनी चढ़ी होती है और जिस रंग की वह होती है, उसी रंग का प्रकाश बाहिर फेंकती है। और फिर वह चिमनी जितनी अधिकधुंधली होती है,उतना ही कम प्रकाश उससे होता है, इसी प्रकार मनुष्य के शरीर में विद्यमान इन्द्रिय, मन व बुद्धि आदि आत्मज्योति के लिए चिमनी के तुल्य हैं। ये इन्द्रियाँ आदि जिस रंग में रँगी होती हैं, मनुष्य के अन्दर से वैसा ही प्रकाश बाहिर प्रतिक्षिप्त होता है और वह संसार को उसी रंग में रँगा हुआ देखता है। और ये इन्द्रियाँ आदि चिमनियाँ जितनी ज्यादा धुंधली होती हैं उतना ही कम संसार उनके लिए प्रकाशित होता है। और फिर लैम्प में तो एक ही चिमनी होती है परन्तु इस आत्मज्योति के चारों ओर तो तीन चिमनियाँ चढ़ी हुई हैं जिनमें से होती हुई आत्म-ज्योति बहुत ही धुंधली तथा परिवर्तित रूप में बाहिर आती है। आत्मज्योति के चारों ओर ये तीन चिमनियाँ इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि हैं। सबसे बाहिर इन्द्रियाँ, फिर मन और फिर बुद्धि। श्रीमद्भगवद्गीता ३ अ. ४२ श्लोक में कहा भी है कि—

> "इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
> मनसस्तु परा बुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तु सः ।।"

अर्थात् इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि और बुद्धि से परे वह आत्मज्योति है।

इस प्रकार आत्मा की ज्योति को बाहिर फेंकने वाली ये तीन चिमनियाँ हैं जो कि एक-दूसरे से धुंधली होती हुई चली गई हैं। बुद्धि से मन ज्यादा धुंधला है और मन से इन्द्रियाँ ज्यादा धुंधली हैं। इस प्रकार आत्मज्योति इनमें छनती हुई बहुत स्वल्प मात्रा में तथा परिवर्तित रूप में बाहिर आती है और संसार को प्रकाशित करती है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपनी चिमनी के आधार पर संसार को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा करता है और संसार

का वैसा ही ज्ञान उसे होता है। संसार का घटबढ़रूप में साधारण ज्ञान सब मनुष्यों को होता ही है परन्तु वैदिक शास्त्र यह कहते हैं कि इन इन्द्रियों पर आये हुए मल को--जिसे कि वेद की भाषा में वल कहा जाता है—को साफ कर तथा इन इन्द्रियों की शक्ति को अत्यधिक बढ़ाकर दिव्य ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। वेद व अध्यात्म-सम्बन्धी ग्रन्थों में सभी इन्द्रियों व मन आदि के सम्बन्ध में अनेकों दिव्यशक्तियों का तथा तद्द्वारा उपलब्ध दिव्यज्ञान का वर्णन मिलता है। वे दिव्य शक्तियाँ वेदों में गौ व उस्रा आदि नामों से वर्णित हुई हैं (ऋ. १०।६७,६८ तथा अन्य फुटकर मन्त्र) इन पर हम आगे मन्त्रार्थ देते हुए विस्तार से विचार करेंगे। ये दिव्यशक्तियाँ इन्द्रियों की अपनी नहीं हैं, ये तो आत्मा की ही अपनी विभूति हैं। जब मनुष्य योगसाधना द्वारा बृहत् ऋत की ओर आरोहण करता है, दिव्यगुरु बृहस्पति के शिष्यत्व में ऊर्ध्वोन्मुख होता है तभी इन की प्राप्ति होती है। मुण्डकोपनिषद् के आधार पर [यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा] प्राण व इन्द्रियों के विशुद्ध होने पर यह आत्मशक्ति विभुत्व को प्राप्त होती है। ये इन्द्रियाँ तो आत्मा की विभूति को प्रतिक्षिप्त करने वाली हैं और किन्हीं विरले भाग्यशाली आदमियों को ही प्राप्त होती हैं। क्योंकि वे भाग्यशाली योगी व आध्यात्मिक पुरुष अपनी इन चिमनियों को साफ कर देते हैं और जो मैल व आवरण उन पर पड़ा होता है उसे हटा देते हैं। और फिर इनकी योग्यता व शक्ति इतनी बढ़ाते हैं कि आत्मज्योति इन द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैलकर सब पदार्थों को प्रत्यक्ष करा देतीं है।

बृहस्पति सूक्तों में ऐसे कई कथन हुए हैं, जिनसे उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। ऋ. १०।६७।५ में कहा है कि बृहस्पति शिष्य के शयन करते हुए निद्रा के समय अपनी वाक् व ज्योति के गर्जन द्वारा उस पर प्रभाव डालता है और इस प्रकार तीन आसुरी पुरियों का भेदन होकर तीन मस्तिष्करूपी समुद्रों का उद्गम होता है। और इन समुद्रों के उद्गम के साथ ही शिष्य की गौएँ अर्थात् दिव्य शक्तियाँ, दिव्य सूर्य. दिव्य उषा तथा तत्सम्बन्धी अर्क ये प्राप्त हो जाते हैं।

अब हम सामान्य भाषा में वेद से अर्वाचीन शास्त्रों के आधार पर यह दर्शाने का प्रयत्न करते हैं कि इन इन्द्रियों को दिव्य शक्ति सम्पन्न कैसे बनाया जाये ? इस सम्बन्ध में दो उपाय हैं जिनका हमें अवलम्बन करना चाहिये। वे निम्न प्रकार हैं—

१. इन्द्रियाँ व मन आदि को शुद्ध बनाया जाये। उन पर मैल व आवरण पड़ा हुआ है, उसे हटाया जाये।
२. इनकी शक्ति को खूब बढ़ाया जाये।

अब हम संक्षेप में इन पर विचार करते हैं।

## मल-शोधक व ज्योति-वर्धक सत्वगुण

यह सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृति से बनी है। और यह प्रकृति भी त्रिगुणात्मिका है। वे त्रिगुण सत्व, रज और तम नाम से कहे गये हैं। इनके सम्बन्ध में सांख्यदर्शन में आता है कि—

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः"

अर्थात् सत्त्व, रज और तम नामक गुणों की जो सम अवस्था है, वह प्रकृति कहलाती है। जब तक कि ये गुण सम अवस्था में रहते हैं, तब तक तो सृष्टि नहीं बनती। परन्तु जब इनमें विषमता पैदा हो जाती है, तब सृष्टि का निर्माण शुरू हो जाता है। सृष्टि में कहीं सत्व प्रबल है, कहीं रज बलवान् है और कहीं तम बलशाली है। इस प्रकार सृष्टि में सर्वत्र इन तीनों के बलाबल में विभिन्नता पाई जाती है। सत्व गुण ज्योति व प्रकाश का सुवाहक है। रजोगुण ज्योति को तरह-तरह के रंगों में रँग देता है। और तमोगुण ज्योति व प्रकाश को रोक देता है। इस तरह से इन तीनों गुणों का विविध-विविध प्रकार का मेल, विविध-विविध प्रकार के परिणामों को पैदा करता रहता है। इन्हीं तीनों से सारे संसार का निर्माण हुआ है। हमारा शरीर भी इन्हीं तीनों के मेल का परिणाम है। जिन मनुष्यों में सत्वगुण अधिक है, वे सात्विक पुरुष कहलाते हैं। जिन में रजोगुण अधिक है, वे रजो गुणी होते हैं। और जिनमें तमोगुण अधिक है, वे तामसिक होते हैं। हमारे शरीर में मन, बुद्धि आदि प्रत्येक अंग भी इन्हीं के घट-बढ़ मेल व आवरण का परिणाम है। इन सत्व, रज, तम का शरीर-~~शरीर~~ में सन्तुलन प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। क्योंकि शरीर में निर्माण व विनाश-प्रक्रिया हर समय हो रही है। इसलिए प्रश्न यह है कि दिव्य शक्ति प्राप्त करने के लिए हमें सत्व, रज और तम में से किसको बढ़ाना चाहिए? इन तीनों में तम[1] तो स्पष्ट रूप से दिव्य शक्तियों को घेरने वाला है। इससे प्रमाद, मोह और आलस्य ही बढ़ते हैं। प्रकाश तो इसमें बिल्कुल है ही नहीं। इसलिए दिव्य प्रकाश व दिव्य शक्तियों की प्राप्ति के लिए तम को बढ़ाने का प्रश्न ही नहीं उठता। आगे रहा रजोगुण। दिव्य प्रकाश की

---

१- अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १४ अ० श्लोक १३

प्राप्ति में यह रजोगुण भी बाधक है। क्योंकि दिव्य ज्ञान के लिए यह भी एक आवरण है। श्रीमद्भगवद्गीता अ० ३।३७-४० श्लोक में रजोगुण से उत्पन्न होने वाले काम, क्रोध आदि को ज्ञान का आवरण बताया गया है। वहाँ आता है कि, "काम[1], क्रोध इत्यादि ये महापाप्मा हैं। जिस प्रकार धूआँ अग्नि को घेर लेता है, दर्पण को मैल घेर लेता है और गर्भ को जिस प्रकार उल्ब [जरायु] घेरे रहता है, उसी प्रकार मनुष्य को ये काम-क्रोध इत्यादि घेरे रहते हैं। ज्ञानी के ज्ञान को ये घेरने वाले हैं। इनका स्थान शरीर में मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ हैं।"

इसलिए रजोगुण भी दिव्य प्रकाश व दिव्य शक्तियों की प्राप्ति में सहायक नहीं है। आगे रहा सत्त्व। यह स्पष्ट रूप में दिव्य ज्ञान की प्राप्ति में सहायक है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि "जब[2] सत्त्व की वृद्धि होती है तब इस शरीर के सब इन्द्रिय-द्वारों में प्रकाश पैदा हो जाता है।" इसलिए यह निश्चय से कहा जा सकता है कि मनुष्य को दिव्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपने अन्दर सत्व की वृद्धि करनी चाहिए।

अब विचारणीय है कि सत्व की वृद्धि किस प्रकार करें? इस सम्बन्ध में कई उपाय बताए जा सकते हैं। उनमें एक उपाय भोजन भी है।

---

१- काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥
इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥
—गीता अ० ३।३७-४० श्लोक

२- सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ —अ० १४।११ श्लोक
सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्। —१५ अ० १७ श्लोक

शरीर-विज्ञान शास्त्र का यह मत है कि मनुष्य-शरीर में रात-दिन निर्माण व विनाश-प्रक्रिया चल रही है। इस निर्माण व विनाश-प्रक्रिया का आधार अन्न है। इसलिए क्या निर्माण करना और क्या विनाश करना अर्थात् शरीर में से बाहिर करना, यह सब अन्न पर आश्रित है। क्योंकि इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि आदि जो कि आत्मा के प्रकाश को प्रतिबिम्बित करने वाले हैं, इनका निर्माण अन्न से होता रहता है। इसलिए यदि सात्विक अन्न होगा तो स्पष्ट रूप में सत्वगुण की उत्पत्ति व वृद्धि होगी और ये इन्द्रियाँ आदि भी सात्विक बन जायेंगी अर्थात् सत्व से आवेष्टित होंगी। ईसी भाँति अन्न के द्वारा मन भी सत्वयुक्त होता रहता है। इस सम्बन्ध में छान्दोग्योपनिषत् ६।५।१।३ में आता है कि—

"अन्नमशितं त्रेधा विभजते·····योऽणिष्ठस्तन्मनः"

अर्थात् खाया हुआ अन्न तीन भागों में विभक्त होता है, उसका जो सबसे सूक्ष्म भाग है, वह मन में जाता है इसी प्रकार इन्द्रियाँ व बुद्धि आदि का भी निर्माण अन्न से होता रहता है। इसलिए हमें इनको सात्विक बनाने के लिए सात्विक अन्न ही खाना चाहिए। परन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि अन्न से मन के निर्माण का भाव यह नहीं है कि पहले मन नहीं था और फिर अन्न से इसकी उपत्ति हुई। वैदिक साहित्य में तो मन को 'अमृत' माना है। आत्मा के साथ यह मन प्रायः लगा रहता है। इसलिए यह तो नहीं कहा जा सकता कि पहले मन नहीं था और फिर अन्न द्वारा उसका निर्माण हुआ। इसका भाव यह है कि अन्न के सम्पर्क से मन की शक्ति का उपचय और अपचय अर्थात् वृद्धि और ह्रास होता रहता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि अन्न से मन व इन्द्रियों आदि का सदा निर्माण होता रहता है। अतः दिव्य प्रकाश व दिव्य शक्तियों की चाहना वाले मनुष्य को सात्विक अन्न द्वारा अपने मन आदि को सात्विक बनाना चाहिए। उसमें किसी प्रकार का विजातीय तत्व या मैल नहीं आने देना चाहिए।

## सत्व गुण को प्रबल बनाना

ऊपर हम यह देख चुके कि दिव्य-शक्ति चाहने वाले मनुष्य को सात्विक अन्न के भक्षण के द्वारा अपने मन आदि को सात्विक बनाना चाहिए। परन्तु सत्व को प्रबल बनाने के अन्य भी कई उपाय हैं। इनको

हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। एक तो केवल रज और तम के विनाशक उपाय हैं। रज और तम पर प्रहार करने वाले ये उपाय उग्र व कठोर हो सकते हैं। दूसरे कुछ उपाय प्रमुख रूप से सत्व की वृद्धि ही करने वाले हो सकते हैं। हठयोग से सम्बन्ध रखने वाली जितनी भी उग्र व कठोर क्रियाएं हैं, वे मलों का नाश करने वाली हैं, विरेचन व शोधन करने वाली हैं। परन्तु भगवान् की भक्ति करना, शान्ति, समता व स्थिरता आदि को बनाए रखना, दिव्य भावनाओं को जागृत करना, व दिव्य गुरु की शक्ति इत्यादि उपाय प्रमुख रूप से सत्व को बढ़ाने वाले हैं और गौण रूप से रज और तम के विनाशक भी हैं। इसी प्रकार और भी कई उपाय हो सकते हैं, जिनको कि वेद के शब्दों में हम आगे दिखायेंगे।

## बृहस्पति और गौएँ तथा उनका उद्धार

बृहस्पति देवता-सम्बन्धी ऋग्वेद का सम्पूर्ण १०।६८ सूक्त तथा अन्य कई फुटकर मन्त्र विशेष तौर पर गौ के स्वरूप को दर्शाते हैं और यह भी दर्शाते हैं कि वल आदि असुरों द्वारा छिपायी हुई गौओं को बृहस्पति किन-किन उपायों से बाहिर निकालता है। १०वें मण्डल के इस ६८ सूक्त पर यदि समग्ररूप से दृष्टिपात किया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सूक्त में वर्णित गौ सामान्य पशु नहीं है, ये दिव्यज्ञान को किरणें हैं, दिव्य शक्तियाँ हैं जो कि वलरूपी मल व आवरण से दबी हुई हैं। आलंकारिक भाषा में यह भी कह दिया है कि वल असुर है और उसने गौओं को अंधेरी गुफा में छिपाया हुआ है। बृहस्पति इन्हें उस वलरूपी असुर की गुफा से बाहिर निकालने के लिए अनेकों उपाय करता है। यह विस्तार से सूक्त पर विचार करते हुए प्रदर्शित करेंगे। श्री अरविन्द का कहना है कि "गौएँ उषा की किरणें हैं, सूर्य की गौएँ हैं, वे भौतिक शरीरधारी पशु नहीं हैं, लुप्त गौएँ सूर्य की लुप्त हुई किरणें हैं।" और यह भी लिखा है कि "परन्तु साथ ही वेद की उस भाषा से इस बात का भी संकेत मिलता है कि यह सूर्य दिव्य ज्योति को देने वाली शक्ति का प्रतीक है और स्वः दिव्य सत्य का लोक है।" इसी प्रकार श्री अरविन्द ने गौ, सूर्य तथा उषा आदि प्रतीकों पर बहुत कुछ लिखा है। ऋ० १०।६८।३ में इन दिव्य ज्योतिरूप गौओं को निम्न विशेषण दिये गये हैं।

१. साध्वर्याः—साधु पुरुष से प्राप्य अथवा साधुमार्ग से प्राप्य।
२. अतिथिनीः—जिनकी प्राप्ति की कोई तिथि निश्चित नहीं है।

३. इषिराः—गतिशील ।
४. स्पार्हाः—स्पृहणीय, वाञ्छनीय ।
५. सुवर्णाः—उत्तम वर्णवाली, अथवा सुवर्णसमान ज्योतिर्मय ।
६. अनवद्यरूपाः—अनिन्दित रूप वाली ।

गौ के इन उपर्युक्त विशेषणों पर विचार या विवेचन मन्त्रार्थ के समय किया जायेगा । अब हम सामान्य दृष्टि से इन पर विचार करते हैं ।

श्रीमद्भगवद्गीता (१४।११) में कहा गया है कि "जब सत्व की वृद्धि होती है, तब इस शरीर के सब इन्द्रियद्वारों में प्रकाश पैदा हो जाता है ।" यही इन्द्रियों का दिव्य प्रकाश है या दूसरे शब्दों में दिव्य शक्तियाँ हैं । सामान्य प्रकाश तो सर्वसाधारण मनुष्यों की इन्द्रियों में होता ही है । परन्तु सत्व की वृद्धि होने पर जो प्रकाश पैदा होता है, वह सामान्य अवस्था के प्रकाश से भिन्न ही होता है । वास्तव में यह प्रकाश आत्मज्योति का है । सत्व की वृद्धि होने पर यह और भी विस्तृत व व्यापक हो जाता है । जिस समय यह आत्मज्योति बुद्धि, मन व इन्द्रियों आदि पर आकर पड़ती है, उस समय यह आत्मज्योति आत्मा की न कही जाकर बुद्धि, मन व इन्द्रियों आदि की कही जाती है । जिस प्रकार ओट में छिपे भगवान्[1] की ज्योति सूर्य पर आकर पड़ती है और सूर्य को ज्योतिष्मान् बनाती है । उस समय वह भगवान् की ज्योति न कही जाकर सूर्य की ज्योति कहलाती है । और जिस प्रकार सूर्य की ज्योति चन्द्रमा पर आकर पड़ती है, उस समय वह सूर्य की न रहकर चन्द्रमा की ज्योति कहलाती है । इसी प्रकार आत्मज्योति मन, बुद्धि आदि दर्पणों पर पड़कर उस दर्पण की ज्योति करके कही जाती है । ब्रह्माण्ड में भगवान् की ज्योति को प्रतिक्षिप्त करने वाले पदार्थ अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत् आदि देवता करके व्यवहार में आते हैं । इसी प्रकार पिण्ड अर्थात् शरीर में आत्मारूपी सूर्य की ज्योति को प्रतिक्षिप्त करने वाले जो अंग हैं, उनका भी वैदिक साहित्य में सूर्य आदि नामों से वर्णन किया गया है ।

वेदों व अन्य शास्त्रों में आता है कि एक-एक देवता शरीर व इन्द्रिय-

---

१- तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । कठ० ६।१५
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषः । ऋ० १।११५।१

गोलकों में आकर बैठा हुआ है। ऐतरेयारण्यक[1] में आता है कि 'अग्नि वाक् बनकर मुख में प्रविष्ट हुई है, वायु प्राणरूप होकर नासिकाओं में प्रविष्ट है, सूर्य चक्षुशक्ति बनकर आँखों में प्रविष्ट हुआ है, दिशाएँ श्रोत्रशक्ति बनकर दोनों कानों में प्रविष्ट हैं और चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हो गया है। इसी प्रकार अन्य सब देव भी शरीर में शारीरिक शक्ति बनकर प्रविष्ट हुए हैं। जिस प्रकार बाह्य जगत् में ये सब देवता उस परमात्म-ज्योति के द्वारा ज्योतिष्मान् होते हैं, इसी प्रकार शरीर में ये आत्मज्योति से ज्योतिष्मान् होते हैं।

## इन्द्रियाँ देवताओं की गौएँ हैं

शरीर में इन्द्रिय-स्थानों पर बैठे हुए इन देवों की ज्योतियों को वेद की परिभाषा में देवताओं की गौएँ कहा गया है। इसका भाव यह प्रतीत होता है कि जिस प्रकार मनुष्यों को गौएँ दूध पिलाती हैं और सूर्य की किरणें औषधि, वनस्पति आदि में से रस लेकर सूर्य को पिलाती हैं, इसी प्रकार शरीर में विद्यमान ये इन्द्रिय-किरणें बाह्य जगत् से तत्तत् सम्बन्धी ज्ञान-रस प्राप्त कर अपने देवताओं को पान कराती रहती हैं। इसलिए वेद की परिभाषा में इन्हें 'गौ' नाम दे दिया गया प्रतीत होता है। इन्हें इन्द्रिय-किरण कह लेवें, इन्द्रिय-प्रकाश कह लेवें, इन्द्रिय-शक्तियाँ या देवताओं की गौएँ कह लेवें बात एक है। अब आगे हम इन्हें 'गौ' नाम से भी सम्बोधित करेंगे। मन्त्रों में इन इन्द्रिय-किरणों व शक्तियों को देवों की गौएँ कहा गया है। और यह भी आता है कि 'वल' जिसको ब्राह्मण-ग्रन्थों में असुर कहा गया है, इन गौओं को देवताओं से छीनकर छिपा देता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इस आधार पर दो एक कथानक भी आते हैं, जिनका स्पष्टीकरण हम आगे करेंगे। यह 'वल' इन्द्रिय-ज्योतियों पर पड़ा हुआ मल व आवरण है। वैदिक-साहित्य में आता है कि वलरूपी मल या आवरण को हटा देने पर इन्द्रिय-शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं। और इनको नाना साधनों द्वारा इतना बढ़ाया जा सकता है कि ब्रह्माण्ड में इनका अपने क्षेत्र

---

१- अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणीप्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्... चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्। ऐ० २।४।२

का कोई भी तत्व ऐसा नहीं बचता जो कि इनकी पहुंच से बाहर हो। परन्तु संसार में हम यह देखते हैं कि साधारण मनुष्यों को इन इन्द्रियों में ऐसी कोई दिव्य ज्योति व दिव्य शक्ति नहीं होती। इसका कारण यह है कि उनकी इन्द्रियाँ आदि चिमनियाँ बहुत मलिन व धुंधली होती हैं। जिस प्रकार काला व मलिन शीशा सूर्य की ज्योति को ग्रहण नहीं कर सकता, उसी प्रकार धुंधली व मलिन इन्द्रियाँ आत्मज्योति को ग्रहण ही नहीं कर सकतीं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि ऐसे मनुष्यों में दिव्य ज्योति होती ही नहीं। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि आत्म-ज्योति तो सबके अन्दर है, पर साधारण मनुष्यों के दर्पणों पर 'वल' अर्थात् मैल का जो एक आवरण आया हुआ होता है। मैल के जमते-जमते जो एक पहाड़ बन गया है, इसके कारण वह बाहिर प्रकट होने नहीं पाती।

## दिव्य गुरु बृहस्पति द्वारा शिष्य की दिव्य शक्तियों का उद्घाटन

अब प्रश्न यह है कि इन ज्योतियों अर्थात् देवताओं की गौओं को वलरूपी पहाड़ के नीचे से निकाले कौन ? साधारण मनुष्य में तो यह शक्ति होती नहीं कि वह वल रूपी असुर के फन्दे से गौओं को छुड़ा सके। और फिर उसे पता भी नहीं होता कि ऐसी कोई दिव्य शक्ति होती भी है कि नहीं। इसलिए प्रायःकर साधारण मनुष्यों में अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी विषयों में श्रद्धा का अत्यन्त अभाव होता है। परन्तु जिन मनुष्यों के अन्दर इन विषयों के प्रति श्रद्धा होती है उनके लिए वेद बृहस्पति-सूक्तों द्वारा यह कहता है कि उन्हें ऐसे गुरु की अन्वेषणा करनी चाहिए जो कि दिव्य-शक्ति सम्पन्न हो। और समित्पाणि होकर उसको गुरु धारण करना चाहिए। परन्तु किसी दिव्य-शक्ति सम्पन्न व्यक्ति को गुरु धारण करना भी कोई मामूली बात नहीं है। वेद के शब्दों में यदि हम इसको और भी स्पष्ट कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि, उसे उस दिव्यगुरु का गर्भ बन जाना चाहिए। अर्थात् गुरु में अपनापन खो देना चाहिए। इस प्रकार जब मनुष्य किसी दिव्य व्यक्ति को अपना गुरु बना लेता है, तब गुरु सबसे पहले यह देखता है कि शिष्य में कौनसी शक्ति सुगमता से बाहिर लायी जा सकती है। क्योंकि संसार में हम देखते हैं कि इस जगत् में भिन्न-२ शक्तियों वाले मनुष्य होते हैं। किन्हीं में कोई शक्ति बढ़ी हुई होती है, तो किन्हीं में कोई शक्ति। दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि किन्हीं शक्तियों पर तो आवरण की

तह मोटी है तो किन्हीं पर सूक्ष्म व विरल होती है। कई ऐसे भी मनुष्य हैं या यूँ कहना चाहिए कि प्रायः अधिकतर ऐसे ही मनुष्य होते हैं, जिनकी सभी शक्तियों पर आवरण की मोटी तह जमी हुई होती है। उस तह को हटाने के लिए तो बहुत काल लग सकता है और जन्म-जन्मान्तर तक लग सकते हैं। परन्तु जिन मनुष्यों में किसी शक्ति पर बहुत ही सूक्ष्म आवरण होता है, उसको तो सामान्य प्रहार से फोड़ा जा सकता है। इसलिए सबसे प्रथम गुरु शिष्य को देखकर यह पता लगाता है कि कौन-सी शक्ति सुगमता से बाहिर आ सकती है। मन्त्र में आता है कि—

"अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्"

—ऋ० १०।६८।८

वह बृहस्पति पत्थर से ढके हुए उस दिव्य ज्ञान [मधु] को इस प्रकार देख लेता है, जिस प्रकार उथले पानी में मछली देख ली जाती है।

और जिन शक्तियों पर आवरण की तह सूक्ष्म होती है वे शक्तियाँ मनुष्य में खूब बढ़ी हुई होती हैं। वे उस मनुष्य में चुप नहीं बैठतीं। बार-बार बोलती हैं। ऐसी शक्तियों के सम्बन्ध में वेद में कहा गया है कि—

"बृहस्पतिरमत त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत्"

—ऋ० १०।६८।७

वह बृहस्पति उन शक्तियों को जान लेता है जो कि गुफा में छिपी हुई बोल रही हैं।

इस प्रकार सबसे प्रथम यह जानने की आवश्यकता है कि, शिष्य के अन्दर छिपी हुई शक्तियों में कौन-सी ऐसी शक्ति है जो कि सुगमता से बाहिर लायी जा सकती है। सर्वप्रथम उसी को प्रकाश में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि एक शक्ति के बाहिर आने पर अन्य शक्तियाँ भी सुगमता से बाहिर आ सकती हैं। दिव्य गुरु ही यह काम सुचारु रूप से कर सकता है। जब गुरु शिष्य को देखकर यह पता लगा लेता है कि आवरण के नीचे दबी अमुक शक्ति सुगमता से बाहिर आ सकती है, तो वह अपनी शक्ति के प्रभाव से सुगमता से उसे बाहिर निकालता है। और उस स्थान पर उस शक्ति का बीज बोता है जहाँ कि आवरण का पहाड़ न

खड़ा हो। इसका भाव यह है कि गुरु को यह चाहिए कि सबसे पहले शिष्य के उस व्यसन व आवरण पर सीधा प्रहार न करे, जो व्यसन व आवरण बढ़ते-बढ़ते पहाड़ का रूप धारण कर चुके हैं। उन पर सीधा प्रहार करने का यह परिणाम निकलेगा कि शिष्य चोरी छिपे उस व्यसन की पूर्ति करेगा। गुरु को यह न पता चल जाये कि मैं निषिद्ध व्यसन की पूर्ति कर रहा हूं, इसको छिपाने में वह असत्य भी बोलेगा। और इस प्रकार शनैः-शनैः उसकी गुरु के प्रति श्रद्धा भी जाती रहेगी। इसलिए इन सब बातों को ध्यान में रखकर गुरु को यह चाहिए कि वह शिष्य की उन बातों को अपील करे जो श्रेष्ठ हों। पहले उनको समुन्नत करे। जब श्रेष्ठ बातें बहुत बढ़ जायेंगी तो अन्य सब व्यसन स्वयं जाते रहेंगे। इसी दृष्टि से वेद में बृहस्पति के सम्बन्ध में कहा कि—

"बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः"

—ऋ० १०।६८।३

अर्थात् बृहस्पति ने 'वल' के पर्वतों के नीचे से दिव्य शक्तियों को निकालकर और उनसे दूर हटाकर शिष्य में उनका बीज-वपन किया। जिस प्रकार किसान अन्न का भण्डार भरकर रखने वाले वैश्यों से जौ आदि बीज लेकर खेत में बोते हैं।

दिव्य शक्ति का भन्डार सब मनुष्यों के अन्दर निहित है। केवल मात्र आवरण को हटाकर उसको बाहिर प्रकाश में लाना है। यह कार्य दिव्य गुरु ही बहुत अच्छी प्रकार कर सकता है। इसलिए मन्त्र में दिव्य गुरु बृहस्पति का यह कार्य बताया है। अब प्रश्न यह है कि जब गुरु ने वासनाओं व व्यसनों से आक्रान्त शिष्य की शक्तियों को उनसे पृथक् कर अन्यत्र बीज-वपन कर दिया तो वे शक्तियाँ कब वृक्ष रूप में बढ़कर पुष्पित व पल्लवित होंगी? अर्थात् वे शक्तियाँ कब इतनी बढ़ जायेंगी कि संसार की कोई भी विरोधी शक्ति उन्हें दबा न सके और ब्रह्माण्ड में उनकी गति अव्याहत हो। इस सम्बन्ध में दो बातें विचारणीय हैं कि एक तो शिष्य ने गुरु के प्रति अपने आपको कितना समर्पण किया है। और दूसरे उसका अपना प्रयत्न व अभीप्सा कितनी है? प्रथम बात के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि गुरु का तीव्रतम प्रयत्न उसी अवस्था में हो सकता है, जब कि शिष्य गुरु में अपनेपन को खो देवे। और वेद के शब्दों में गुरु का गर्भ बन जाये। इसी दृष्टि से ऋ० १०।६८ सू० में गौ और वलासुर का वर्णन करते हुए द्वितीय मन्त्र में कहा कि—

"जने मित्रो न दम्पती अनक्ति"

अर्थात् (मित्रः) निर्माता बृहस्पति (जने) जनन कार्य में दम्पती की तरह अपने आपको व्यक्त करता है। भाव यह है कि जिस प्रकार स्त्री और पुरुष पुत्ररूप में अपने आपको व्यक्त करके दम्पती भाव को चरितार्थ करते हैं, उसी प्रकार यह बृहस्पति शिष्य के निर्माण में अपने को दम्पती की तरह समझता है। इसलिए गुरु की पूर्ण सहायता लेने के लिए आवश्यक है कि शिष्य गुरु में अपनेपन को खो देवे और उसे पूर्ण समर्पण कर देवे। परन्तु इस सम्बन्ध में एक प्रश्न हो सकता है कि शिष्य में पूर्ण आत्मसमर्पण की भावना भरने के लिए गुरु को यह चाहिए कि वह अपनी दिव्य शक्ति के प्रभाव से या अन्य उपायों से शिष्य में यह विश्वास पैदा कर देवे कि उसका उद्धार यदि होना है तो यहीं होना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुत अन्त तक गुरु का भी यह काम है कि वह शिष्य को समर्पण के लिए अनुकूल बनावें। वेद में अनेकों स्थलों पर ऐसा वर्णन भी आता है। परन्तु पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि गुरु का गर्भ बन जाने का क्या भाव है? प्राणियों में जब गर्भ-स्थिति होती है तो पहले पहल वह गर्भ "कलल" रूप में होता है। स्वर्ण से कुण्डल आदि बनाने हों, लोहे से मशीनरी बनानी हो तो पहले से सोने व लोहे को पिघलाकर सांचे में डाला जाता है। ऐसी अवस्था में ही लोहे व सोने को जैसे साँचे में डाला जायेगा, वैसा वे रूप धारण कर लेंगे। उपनयन के समय आचार्य ब्रह्मचारी को जब अपना गर्भ बनाता है, तब ब्रह्मचारी की वह अवस्था बहुत कच्ची होती है। इस समय वह बहुत सख्त व दृढ़ नहीं होता। इसलिए इस समय शिष्य को जैसी शिक्षा दी जायेगी, वैसा वह बन जायेगा। फिर शिष्य के बनाने में आचार्य का तीसरा स्थान है। **(मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद)** कुछ न कुछ माता-पिता से वह संस्कार लेकर आता है। इसलिए आचार्य को भी उसको ठीक-ठीक परिमार्जित व शिक्षित करने में बहुत कठिनाई होती है। परन्तु जो मनुष्य बड़ा होकर अध्यात्म में जाना चाहता है, वह एक प्रकार से पूर्ण परिवर्तन करना चाहता है। उसके लिए गर्भस्थ कलल के समान कोमल बनना अति दुष्कर है। क्योंकि उसके अपने विचार परिपक्व हो चुकते हैं। कुछ सिद्धान्त बन चुके होते हैं। और आदतें दृढ़मूल हो चुकती हैं, जिनको छोड़ना आसान काम नहीं है। इसलिए ऐसे व्यक्ति को सुकोमल बनाने के लिए कुछ तो परिस्थिति ठोकर देती हैं, जिससे उसके परिपक्व विचार व दृढ़ आदतें चकनाचूर हो जाती हैं, ग्रन्थियाँ टूट-फूट जाती हैं, उस समय मनुष्य में एकदम परिवर्तन आता है। परन्तु शिष्य को कोमल बनाने में गुरु बहुत बड़ा सहायक है। वेद में आता है कि—

"तद् देवानां देवतमाय कर्त्वमश्रथ्नन् दृढह्राव्रदन्त वीडिता:"

—ऋ० २।२४।३

अर्थात् बृहस्पति ने जब देवों (इन्द्रियों) को देवतम अर्थात् और भी दिव्य बनाना चाहा तो जो अपने अभ्यस्त बातों व आदतों में दृढ़ थे, उन्हें शिथिल कर दिया और जो बलवान् थे, उन्हें कोमल कर दिया। इन्हीं बातों को अन्य मन्त्रों (ऋ० २।२४।२,४) में भी कहा गया है।

इस प्रकार आचार्य भी अपनी दिव्यशक्ति द्वारा शिष्य की परिपक्व आदतों को—जो कि अध्यात्म मार्ग में बाधक हैं, दूर करने का प्रयत्न करता है। शिष्य को यह चाहिए कि वह इन असुरों, वासनाओं आदि से लड़ने के लिए गुरु की शक्ति को अपने अन्दर कार्य करने देवे। उसका अपनापन कुछ न रहे। इसलिए वेद में कहा है कि "भरे-भरे अनुमदेम जिष्णुम्" ऋ० १०।६७।६ हम प्रत्येक संग्राम में उस जयशील बृहस्पति के कार्यों का अनुमोदन करें अथवा उनके अनुकूल रहते हुए शत्रुओं के विनाश में हर्षित हों। इस प्रकार गुरु का प्रयत्न व शिष्य का प्रयत्न ये दोनों बातें होने पर भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस दिन या तिथि को ये इन्द्रियाँ असुरों के पाशों से अवश्य छूट जायेंगी। इसलिए वेद में इन्हें 'अतिथिनी' कहा है। अर्थात् इनके प्रकट होने की कोई निश्चित तिथि नहीं है। परन्तु यह निश्चित है कि प्रयत्नशील व्यक्ति को ये अवश्य प्राप्त हो जायेंगी। इन्द्रियों में दिव्यता प्राप्ति की प्रथम शर्त यही है कि वे निर्मल व वासना-रहित हो जायें।

# वैदिक ईश्वर का स्वरूप

—सच्चिदानन्द शास्त्री

वैदिक ईश्वरवाद के विषय में कोई एक मन्त्र उद्धृत करना हो जिसमें सागर को गागर में भर दिया गया है तो वह निःसन्देह यजु० ४०-८ है—

**स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।**
**कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।।**

उपरोक्त मन्त्र में बताया गया है कि ज्ञानी उस परमेश्वर को प्राप्त करता है जो सर्वशक्तिमय, सर्वथा शरीर-रहित, नस-नाड़ी के बन्धन से रहित, निराकार, निर्विकार, शुद्ध, पवित्र तथा सर्वथा पाप-रहित है। वह सर्वज्ञ मन का भी साक्षी सर्वव्यापक स्वयम्भू है जो (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) अनादि जीव-रूप कल्याणार्थ (याथातथ्यतः) यथार्थ रूप से सब पदार्थों को बनाता और वेद द्वारा उनका उपदेश करता है। यहाँ 'शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' इन शब्दों से अनादि नित्य जीवों की सत्ता और 'याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात् ' से जगत् की यथार्थता, न कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' इस अद्वैत-वेदान्त सिद्धान्तानुसार उसका मिथ्यात्व भी स्पष्ट है।

## जीवेश्वर भेद का अत्यन्त स्पष्ट प्रतिपादन

वेदों में जीवेश्वर भेद का स्पष्ट प्रतिपादन सैकड़ों मन्त्रों में है क्योंकि इस बात को सभी जानते हैं कि वेदों में अधिकतर मन्त्र प्रार्थना के हैं। और प्रार्थना उपास्य-उपासक, सेव्य-सेवक, पिता-पुत्रादि का भेद मानकर ही सम्भव है। तथापि लेख के निम्नलिखित मन्त्रों का निर्देश मात्र ही पर्याप्त है जिनके अर्थ के विषय में भी सन्देह का अवकाश नहीं यदि निःपक्षपात दृष्टि से विचार किया जाए।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।।

—ऋ० १।१६४।२०

इस मन्त्र में जीवात्मा और परमात्मा की दो पक्षियों से तुलना करते हुए (जो दोनों चेतन और नित्य होने के कारण सहयोगी मित्र के समान होते हुए, नित्यता की दृष्टि से समान प्रकृति रूप वृक्ष पर बैठते हैं) यह कहा है कि (तयोः) उन दोनों में से एक कर्मानुसार (स्वादु पिप्पलम्) स्वादु - अस्वादु फल का भोग करता है और (अन्यः) दूसरा कर्मफल का भोग न करता हुआ (अभिचाकशीति) सर्वज्ञ साक्षी बनकर जीवकृत कर्मों को चारों ओर से देखता है। इस प्रकार मन्त्र के शब्दों से जीवात्मा और परमात्मा का भेद स्पष्ट है।

स्वामी आत्मानन्द नामक प्रसिद्ध अद्वैतवादी विद्वान् ने भी "अस्य-वामीय सूक्त" ऋ० १-१६४ की व्याख्या करते हुए इसी जीवात्म-परमात्म भेद-परक अर्थ को स्वीकार किया है। यद्यपि "अविद्या सिद्धं जीवं अनूद्य" इत्यादि शब्द उन्होंने अपनी ओर से जोड़ लिये हैं जो अप्रामाणिक हैं। मन्त्र का भाष्य करते हुए वे लिखते है—

अतो ब्रह्मविद्यैवाश्रयणीया । स चाविद्यासिद्धं जीवमनूद्य······ ························जीवपरमात्मानावाह। द्वौ साधून् अभ्युदय निश्रेयस् पक्षान् विभ्रतौ जीवपरमात्मानौ (सयुजा) अन्योन्यं (सखाया) परस्परोपकारिणौ (समानं) एकं (वृक्षं) वृश्चनीयं देहं (परिषस्वजाते) परित आलिङ्ग्य तिष्ठतः। तयोर्मध्ये एको जीवः पिप्पल फल समं बहुदोषयुक्तमपि कर्मफलं स्वादु कृत्वा अत्ति, (अन्यः) परः परमात्मा (अनश्नन्) अभुञ्जानोऽपि अभितः अत्यर्थं प्रकाशते। कल्पस्तु जीवः परश्च प्रतिपादनीयः, जीवः परात्मेति विवक्तु कामैः। एकस्तयोः कर्मफलं तु भुंक्ते, चकाशतेऽन्योऽनशनः परात्मा।"

—(स्वा० आत्मानन्द कृत अस्यवायीव सूक्त भाष्य, पृ० २६)

श्री सायणाचार्य ने भी शब्दार्थ लगभग उपर्युक्त प्रकार करते हुए अद्वैतवाद के पक्षपातवश निम्न टिप्पणी दे दी है जो सर्वथा अमान्य है क्योंकि मन्त्र के शब्दों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। वे लिखते हैं—

"अयं मन्त्रः औपाधिक भेदं वास्तवाभेदं चापेक्ष्य प्रवृत्तः । अनेन वास्तवभेदोऽपि निरस्तः । न च जीवस्य वस्तुतः ईश्वरत्वे कथं जीव-बुद्ध्या संसार शोकाविति वाच्यं तयोर्मोह कृतत्वात् । तस्मात् वस्तुत एक एव, भेदस्तु मोहकृत् इति प्रसिद्धम् । अनुभवदशायां लौकिकबुद्ध्या भेदमभ्युपेत्योच्यते तयोरन्य" इति ।

तस्मादवास्तव भेदमुपजीव्य "तयोरन्य" इत्युक्तम् ।

अर्थात् इस मन्त्र में औपाधिक भेद किन्तु वस्तुतः अभेद को मानकर "तयोः अन्यः" इत्यादि कहा है । यदि जीव वास्तव में ईश्वर है तो संसार और शोक आदि क्यों दिखाई देते हैं । इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह सब मोह के कारण होता है । वास्तव में जीव-ईश्वर में कोई भेद नहीं । कल्पित–लौकिक भेद मानकर "तयोरन्यः" ऐसा मंत्र में कहा है ।

मुण्डकोपनिषद् के उपर्युक्त मन्त्र को उद्धृत करके इसकी व्याख्यारूप में जो वचन दिया गया है वह भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । मु० ३।२

अर्थात् अनादि नित्य होने से अपने समान प्रकृतिरूप वृक्ष में फँसा हुआ जीव शरीर, इन्द्रिय, मन आदि पर अपने स्वामित्व को खोकर मोह अज्ञानवश शोक करने लगता है । किन्तु जब वह अपने से भिन्न (अन्यम् जुष्टं ईशम्) अपने आनन्दमय प्रेमी स्वामी ईश्वर के दर्शन करता है और उसकी महिमा का चिन्तन करता है तब वह शोक रहित हो जाता है ।

यहाँ भी जीवेश्वर भेद का स्पष्ट प्रतिपादन है । यद्यपि श्री शंकराचार्य जी आदि ने उसे अवास्तविक बताने का प्रयत्न किया है ।

ऋ० १०।८२।६ के मन्त्र में जीवेश्वर भेद का स्पष्ट प्रतिपादन है ।

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थाशासश्चरन्ति ।।

अर्थात् हे जीवो, तुम उस परमात्मा को नहीं जानते जिसने इन सब पदार्थों को उत्पन्न किया है । वह ब्रह्म तुम जीवों से "अन्यत्" भिन्न किन्तु

साथ ही "युष्माकं अन्तरं बभूव" तुम्हारे अन्दर विद्यमान है। तुम अज्ञानान्धकार से आवृत्त, स्वार्थी तथा कपटी-दम्भी होने के कारण उस सर्वव्यापक ब्रह्म को नहीं जानते, ऐसा मन्त्र के उत्तरार्ध में कहा गया है। इस प्रकार परमेश्वर का जीवों से और सांसारिक पदार्थों से (जिनका वह परमेश्वर उत्पादक है) भिन्न होना वेद मंत्र में स्पष्टतया निरूपित किया गया है। यही मंत्र यजु० १७।३१ में भी पाया जाता है।

बृहदारण्यक के—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।।

इत्यादि वचन इस मंत्र के व्याख्यान रूप में प्रतीत होते हैं—जिनमें कहा गया है कि जो परमात्मा आत्मा के अन्दर रहता हुआ भी आत्मा से भिन्न है जिसको अज्ञानी आत्मा नहीं जानता, आत्मा जिसके निवासार्थ मानो शरीर रूप है, जो आत्मा में स्थित होकर सबको वश में रखता है हे गार्गि! वह तुम्हारा अन्तर्यामी अविनाशी परम-आत्मा है। इस मंत्र के अर्थ में सायणाचार्य-उव्वट-महीधरादि अद्वैतवादी आचार्यों को जो खैंचातानी करनी पड़ी है, वह केवल इसे जैसे-तैसे करके अद्वैतवाद समर्थक बताने के लिये।

ऋ० ८।९६।९ का निम्न मन्त्र भी जीव, ईश्वर और प्रकृति तथा प्रकृति से उत्पन्न जगत के भेद को स्पष्टतया प्रतिपादित करता है—

तमुष्टुवाम य इमा जजान विश्वा जातान्यवराण्यस्मात्।
इन्द्रेण मित्रं दिधिषेम गीर्भिरुणे नमोभिर्वृषभं विशेम।।

स्पष्ट है कि हम (तम् उ स्तुवाम) उस ईश्वर की स्तुति करें (य इमा जजान) जिसने इन सब सूर्यादि पदार्थों को बनाया है (विश्वा जातानि अवराणि अस्मात्) ये उत्पन्न सब पदार्थ इस परमेश्वर की अपेक्षा बहुत ही हीन हैं (इन्द्रेण) आत्मा के द्वारा हम (मित्रेण दिधिषेम) सबके सच्चे मित्र परमेश्वर का ध्यान करें। [नमोभिः गीर्भिः] नमस्कार युक्त वाणियों से (वृषभम्) सुखों के वर्षक परमात्मा के (उपविशेम) समीप बैठ जायें, उसकी सच्ची उपासना करें। इस मन्त्र द्वारा ब्रह्म, जीव और जगत् का भेद अत्यन्त स्पष्ट है।

ऋ० ८।९५।३ में परमेश्वर को जीवरूप सनातन प्रजाओं का स्वामी बताया गया है जो उनके भेद को स्पष्ट सिद्ध करता है।

त्वं हि शश्वतीनां पती राजा विशामसि० ।।

अर्थात् हे परमेश्वर! [त्वं हि] तू ही निश्चय से [शश्वतीनां प्रजानाम्] जीवरूप प्रजाओं का (पति असि) स्वामी है।

ऋ० ७।३२।३६, सामवेद–मं० २५९ ऐन्द्र पर्व—

इन्द्रं क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा शिक्षाणोऽस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ।।

जिस प्रकार पिता पुत्रों को उत्तम ज्ञान प्रदान करता है इसी प्रकार तू हमें उत्तम ज्ञान प्रदान कर। हे प्रभो! इस संसार मार्ग में हमें शिक्षा दे। जिससे हम जीव ज्योतिस्वरूप तुझको प्राप्त करें।

सायणाचार्य ने साम० में मंत्र २५९ के भाष्य में इतना उत्तम व्याख्यान किया है। निरुक्त के प्रमाण से इन्द्र का अर्थ परमात्मा करते हुए लिखा है कि—

एवं गुण विशिष्ट परमात्मन्! त्वं (क्रतुम्) कर्मस्वविषय ज्ञानं वा (नः) अस्माकं (आभर) आहर, तत्र दृष्टान्तः पिता पुत्रेभ्यो यथा लोके विद्यां धनं वा प्रयच्छति तथा (नः) अस्मभ्यं विद्या धनं वा प्रयच्छ। हे बहुभिराहूतेन्द्रः [यामनि] सर्वैः प्राप्तव्येऽस्मिन् प्रकृते ब्रह्मणि जीवा वयं परं ज्योतिः [अशीमहि] सेवेमहि।

माधव ने अपने सामवेद भाष्य में भी इसी प्रकार कहा है—

त्वत् दत्तया च प्रज्ञया (जीवाः) जीवन्तो वयं (ज्योतिः) ज्ञानं (अशीमहि) प्राप्नुयाम इत्यर्थः (साम० भाष्य, ऐडचार, पृ० १९०)

इस प्रकार जीवों का परमेश्वर से भेद इतना व्यक्त है, जिससे मना नहीं कर सकते।

ओ३म् क्रतो स्मर, क्लिबे स्मर कृतँस्मर ।। (यजु० ४०।१५)

उपर्युक्त मंत्र में स्पष्ट कहा गया है कि कर्म शील जीव तू 'ओ३म्' पद वाच्य

परमेश्वर का स्मरण कर। शक्ति की प्राप्ति के लिए प्रभु का स्मरण कर। अपने किये को याद कर। आत्म निरीक्षण कर। यहाँ भी जीव-ईश्वर भेद स्पष्ट है।

यजु० ११।४—युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य०

ऋ० ८।५२।५—यो नो दाता स नः पिता महां उग्र ईशान् कृत०

यजु० २०।३२—यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः०

यजु० ३२।१३—सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्०

इत्यादि हजारों मंत्रों को जीवेश्वर-भेद दिखाने के लिये उद्धृत किया जा सकता है।

# कभी मैं भारत थी !

—श्री बलभद्र कुमार हूजा
पूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

कभी मैं भारत थी
अब मैं ग़ारत हूं
सोशलिज्म[1] तो क्या आया ?
अनार्की[2] आ गई
अब मेरे बच्चे कैनीबलिज्म[3] की ओर
बढ़ रहे हैं
करोड़ों को पेट भर अन्न मुयस्सर नहीं
करोड़ों को दूध की बूंद नही मिलती
करोड़ों सड़कों पर, फ़ुटपाथों पर सोते हैं

लाखों मेरी नसें काटने पर उतारू हैं
मेरी आर्टिरियों[4] को जीरा जीरा किया जा रहा है
बीस हजारियों और तीस हजारियों में युद्ध जारी है
पाँच हजारी और दस हजारी एक दूसरे के
जानी दुश्मन हैं
और नादार है वनाट का कोई पुरसाने हाल नहीं

हम एक दिशा में चलें
एक वाणी बोलें
एक जैसा सोचें
एक जैसा खायें
एक जैसा पहनें
एक जैसा रहें

यह सपना कब पूरा होगा ?
तभी मैं भारत भारत हूंगी

---

१. समाजवाद, २. राजशाही, ३. नरभक्षण,नरभक्षिता, स्वजातिभक्षण, ४. धमनी

# सांस्कृतिक संकट और भारत

—डा० (कु०) छाया राय
रीडर, दर्शन विभाग
जबलपुर विश्वविद्यालय
मध्य प्रदेश

आज भारत जिस भीषणतम संकट से गुजर रहा है, वह है सांस्कृतिक संकट ! इसे अस्तित्व का संकट कहना अनुपयुक्त न होगा; क्योंकि जो देश अपनी सांस्कृतिक पहचान खो देता है, वह अपनी स्वायत्त सत्ता भी खो देता है। ऐसे देश का या तो अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है अथवा वह पराश्रित होकर जीता है। आज जो सांस्कृतिक संकट हमारे सम्मुख अपनी पूर्ण विकरालता के साथ उपस्थित हुआ है, उसके एक नहीं, अनेक कारण हैं। इन्हीं में से एक प्रमुख कारण है—विज्ञान तथा तकनीकी का निरन्तर बढ़ता हुआ आक्रामक प्रभाव। आक्रामक इसलिये कि विज्ञान तथा तकनीकी ने भारतीय समाज को विगत दो शताब्दियों से इतनी प्रबलता से प्रभावित किया है कि हमारी सांस्कृतिक विशेषतायें प्रायः विलुप्त होती गई हैं। समकालीन भारतीय दार्शनिक, समाजशास्त्री एवं राजनैतिक चिंतक आदि सभी इस स्थिति से चिन्तित रहे हैं और समय-समय पर समाज को इस संकट के प्रति सचेत करते रहे हैं। सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री प्रोफेसर केवल मोटवानी अपनी पुस्तक "इण्डिया: अ सिन्थीसिस ऑफ कल्चर्स" (पृ० ९९) में लिखते हैं कि विज्ञान और तकनीकी ने भारत की सम्पूर्ण संस्कृति को चीजों को गलाने वाले ऐसे पात्र (मैल्टिंग पॉट) में फेंक दिया है कि उसकी संस्थाओं, आध्यात्मिक मूल्यों, रीति-रिवाजों, परम्पराओं और विश्वासों को ललकारा जा रहा है। अपनी आत्मकथा (पृष्ठ ४७०) में जवाहरलाल नेहरू ने भी यही मत निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया है। वे लिखते हैं—"भारत में वास्तविक संघर्ष हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के मध्य नहीं है। संघर्ष इनके तथा आधुनिक सभ्यता की विजयी वैज्ञानिक संस्कृति के बीच है।" प्रबुद्ध क्षेत्र में गहराई से यह अनुभव किया जा रहा है कि आज भारत की राष्ट्रीय प्रतिभा और पश्चिम की वैज्ञानिक संस्कृति आमने-सामने खड़े होकर विजयी होने के लिए युद्धरत हैं। यह सांस्कृतिक संघर्ष की स्थिति है। स्वदेशी और बाह्य संस्कृति के मध्य

चल रहे युद्ध के दुष्परिणाम हमें भारतीय समाज की संरचनात्मक टूटन और विखण्डन में परिलक्षित हो रहे हैं। हमें बिना किसी आपत्ति के यह स्वीकार करना चाहिए कि सांस्कृतिक संघर्ष की इस प्रक्रिया में हम अपनी सांस्कृतिक पहचान खोते जा रहे हैं। इस भयावह स्थिति से बचने के लिए यह परमावश्यक है कि हम अपनी संस्कृति के मूलाधार को जानें। इसके अतिरिक्त उन विशेषताओं का भी ज्ञान प्राप्त करें, जिनके कारण भारतीय संस्कृति निरन्तर आक्रमणों को झेलती हुई भी आज तक जीवित रही है। स्मरणीय है कि आध्यात्मिकता पर केन्द्रित हमारी संस्कृति अन्तर्मुखी है, वैज्ञानिक संस्कृति के समान यह पूर्णतः बहिर्मुखी नहीं है। यही कारण है कि यह जीवन के प्रति भौतिकतावादी दृष्टिकोण की समर्थक कभी नहीं रही। भौतिकतावादी दृष्टिकोण की अपेक्षा यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण की पोषक है। भौतिक मूल्यों (अर्थ, काम) को पुरुषार्थ स्वीकार करने के बावजूद यह आध्यात्मिक मूल्यों को सर्वोपरि मानती है। मानव को मात्र ऐन्द्रिक या भौतिक, या मात्र बौद्धिक, या केवल सामाजिक या आर्थिक प्राणी स्वीकार करने के स्थान पर यह उसे मूलतः आत्मन् या आध्यात्मिक सत्ता घोषित करती है। वैज्ञानिक संस्कृति से इसके विरोध का मूल कारण इसका धार्मिक-दार्शनिक पक्ष है। धार्मिकता तथा दार्शनिकता को महत्व देने के कारण घरेलू जीवन, सामाजिक जीवन, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में धार्मिक (नैतिक) तथा दार्शनिक दृष्टिकोण अपनाने की शिक्षा हमारी संस्कृति देती रही है।

भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी समन्वय तथा आत्मसात्करण की प्रवृत्ति है। अतः उपर्युक्त सङ्कट से बचने के लिए आधुनिक विज्ञान तथा तकनीकी के महत्त्वपूर्ण योगदान को नकारने की अपेक्षा, उनकी समीक्षा कर, हमें अपनी सांस्कृतिक संरचना के अन्तर्गत उनका यथोचित स्थान निर्धारित कर, उन्हें आत्मसात् कर लेना चाहिए।

यह तथ्य सांत्वनादायी है कि सांस्कृतिक संघर्ष को दूर करने के लिए सचेष्ट अनेक संगठनों के माध्यम से आत्मसात् करने की अपेक्षित प्रक्रिया दृष्टिगोचर होने लगी है। सांस्कृतिक संघर्ष की समाप्ति के लिए सुप्रसिद्ध समन्वयवादी दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन भी उपाय बताते हुए अपनी पुस्तक "हमारी विरासत" (पृष्ठ १७) में कहते हैं कि हम अस्वीकरण व निषेध के दृष्टिकोण के स्थान पर सर्वसमावेशी व व्यापक, असहिष्णुता के स्थान पर समझदारी, घृणा और उन्मादपूर्ण कट्टरता के बदले जो कुछ भी मूल्यवान है उसकी प्रशंसा एवं आत्मसात्करण के रुख को अपना सकते हैं।

सांस्कृतिक सङ्कट की इस स्थिति के एक और कारण पर भारतीय चिन्तकों

का ध्यान गया है। सांस्कृतिक दृष्टि से हम जिस दौर से गुजर रहे हैं,उसे ये चिन्तक सांस्कृतिक संघर्ष न मानकर सांस्कृतिक संभ्रम की दशा मानते हैं। समकालीन भारतीय दार्शनिक प्रो० नन्दकिशोर देवराज ने वर्तमान सङ्कट को अपनी पुस्तक "फिलॉसफी, रिलिजन एण्ड कल्चर" (पृष्ठ १९?) में इसी रूप में परिभाषित किया है। उनके अनुसार सांस्कृतिक संभ्रम की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब स्वीकृत आदर्शों या मूल्यों और उनके अनुसरण अथवा प्राप्ति के मध्य बुद्धिगम्य सम्बन्ध का अभाव रहता है। हमें ईमानदारी से यह स्वीकार करना होगा कि वर्तमान समय में हम वैचारिक शून्यता की दशा में जी रहे हैं। इसका कारण यह है कि इस समय न तो हमारे समक्ष प्राचीन आदर्श हैं और न ही अत्याधुनिक आदर्शों के नाम पर किन्हीं मूल्यों की चेतना। इस तरह हमारे पास ऐसा कोई भी मानदंड नहीं है जो हमारे चिन्तन तथा कर्म को नियंत्रित कर सकता हो। फलस्वरूप आज इस बात की महती आवश्यकता है कि हम सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाते हुए पारम्परिक आदर्शों तथा आधुनिक आकांक्षाओं के मध्य सहज स्वाभाविक व स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित करें। यह हम तभी कर सकते हैं जब हम इस स्थिति से बचने के लिए किसी एकांगी दृष्टिकोण—पारम्परिक अथवा आधुनिक—को न अपनाकर, मौलिक चिन्तन तथा प्रभावोत्पादक क्रिया द्वारा इस स्थिति का सामना करते हुए अपना मार्ग निश्चित करें। हम सभी यह जानते हैं कि आँखें मूँदकर "प्राचीन" को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेना और तदनुसार जीवनयापन करना उतना ही एकांगी है, जितना आधुनिक को ही एकमात्र सत्य मानकर उसके अनुसार जीवन-दृष्टि अपनाना। तीसरी स्थिति भी सम्भव है, और वह है संदिग्धता, संदेह या अनिश्चय की स्थिति। यह सर्वाधिक घातक है; क्योंकि मूल्यविहीन, आदर्शविहीन होकर मनुष्य मनुष्य ही नही रह जाता। जिज्ञासा होती है कि यदि न तो परम्परावादी दृष्टिकोण अपनाना है और न ही आधुनिक दृष्टिकोण, तो सन्देहवादी दृष्टि के अतिरिक्त और क्या नियति होगी? यहाँ फिर हमारा ध्यान भारतीय संस्कृति की आत्मसात्करण की प्रवृत्ति पर जाना चाहिए। वस्तुतः आवश्यकता न तो परम्परा को नकारने की है,और न ही आधुनिकता को। वांछनीय है इन दोनों के मध्य सामंजस्यपूर्ण संबंध की स्थापना करना। यह कार्य हम तभी कर सकते हैं जब युगानुरूप ऐसे नवीन जीवन-दर्शन का निर्माण करें जिसमें प्राचीन मनीषियों, ऋषियों की श्रेष्ठ नैतिक व धार्मिक अन्तर्दृष्टियों का भी समावेश हो और आधुनिक आकांक्षाओं एवं समस्याओं के अनुरूप वैचारिक स्वातंत्र्य एवं अपेक्षित समाधान भी अन्तर्निहित हो।

भारत के सांस्कृतिक सङ्कट की व्याख्या कुछ चिन्तकों ने "सांस्कृतिक

पराधीनता" के रूप में की है। यह एक स्पष्ट तथ्य है कि राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो जाने के बाद भी हम वैचारिक एवं मानसिक दृष्टि से आज भी गुलाम हैं। यह मानसिक या वैचारिक गुलामी ही सांस्कृतिक परतंत्रता की परिचायक है। इस सत्य को स्वर्गीय प्रो० कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने गहराई से अनुभव किया था। अपने ख्यातिप्राप्त लेख "स्वराज्य इन आइडियाज" में वे लिखते हैं कि राजनैतिक स्वतन्त्रता के बाद भी भारत सांस्कृतिक परतंत्रता की स्थिति में जी रहा है क्योंकि हमारे विचारों तथा भावनाओं का पारम्परिक ढाँचा बिना किसी प्रतियोगिता या तुलना के एक ऐसे नये ढाँचे द्वारा अधिक्रमित किया जा चुका है जो ढाँचा एक विदेशी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। यह विदेशी संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति है। सांस्कृतिक पराधीनता को वे "आत्मा की गुलामी" सम्बोधित करते हैं जो शारीरिक गुलामी से निकृष्ट है। श्री भट्टाचार्य जैसे समकालीन भारतीय चिन्तकों के मतानुसार आत्मिक या आध्यात्मिक स्वतंत्रता की पुनर्प्राप्ति के लिए भारत को अपनी सुरक्षा के लिए प्रयास करना चाहिए। भारत तभी सुरक्षित रह सकता है जब हम अपने सांस्कृतिक ढाँचे या संरचना को इस प्रकार पुनर्निर्मित करें कि वह उसके शाश्वत आध्यात्मिक आदर्शों एवं मानव-मूल्यों को और अधिक सशक्त तरीके से तथा और अधिक पूर्णता से व्यक्त कर सके। जैसा कि सर्वविदित है, आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति की धुरी है। अतः उसकी रक्षा हर कीमत पर की जानी चाहिए; किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि हम भौतिक समृद्धि की पूर्णतः अवहेलना कर दें। हम भौतिक सम्पन्नता को मानव-संस्कृति तथा सभ्यता का अनिवार्य व आवश्यक अङ्ग तो स्वीकार करें, परन्तु उसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण या अपरिहार्य अङ्ग न मानें। आज भी भारतीय संस्कृति के केन्द्रीय विचार तथा आदर्श केवल भारत ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानव-समाज के लिये प्रेरणादायी हैं। वस्तुतः भारतीय संस्कृति में मानव-संस्कृति अथवा विश्व-संस्कृति बनने की सामर्थ्य है। अतः ऐसी सार्वभौम संस्कृति की अवमानना करना केवल हम भारतीयों के लिये ही नहीं वरन् सम्पूर्ण मानव-समाज के लिए आत्मघातक सिद्ध होगा। इसलिये वांछनीय यह है कि हम इसके विश्वजनीन या सार्वभौम आदर्शों के प्रति स्वयं सचेत होकर सम्पूर्ण विश्व को उनसे परिचित करवायें।

कुछ चिन्तकों ने इस सांस्कृतिक सङ्कट को "सांस्कृतिक विघटन" के रूप में भी देखा है। वे इस विघटन के लिये अन्य घटकों के साथ भारतीय समाज को भी उत्तरदायी ठहराते हैं। इन चिन्तकों में सर्वश्री महादेवी वर्मा (भारतीय संस्कृति के स्वर), श्री रामधारी सिंह दिनकर (संस्कृति के चार अध्याय) तथा श्री अरविन्द (भारतीय संस्कृति का आधार) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी

चिंतक स्वीकार करते हैं कि सांस्कृतिक विघटन का एक प्रमुख कारण स्वाकृत व समर्थित आदर्शों तथा सामूहिक अभ्यास अथवा तदनुकूल कर्म के बीच गहरी खाई का होना है। समाज में व्याप्त कथनी-करनी के इस भेद ने सांस्कृतिक आदर्शों तथा मूल्यों को इतिहास तथा पुस्तकों की चीज बना दिया है। कथनी-करनी का यह भेद "चिंतन" तथा "सक्रिय जीवन" के बीच चौड़ी होती दरार को इंगित करता है। उदाहरणार्थ सम्पूर्ण मानव जाति की आधारभूत तात्विक एकता का आदर्श प्रस्तुत करने वाली भारतीय संस्कृति का समर्थक भारतीय समाज व्यावहारिक जीवन में अस्पृश्यता को मान्यता देता है। यह भेद हास्या-स्पद तो है ही, सर्वांगीणता तथा सामञ्जस्य की मूल भारतीय दृष्टि का भी निषेध करता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति के स्तर पर व्यक्तित्व की टूटन, समाज के स्तर पर परस्पर अविश्वास तथा राष्ट्र के स्तर पर सांस्कृतिक विघटन के रूप में यह भारत को विखंडित कर रहा है। अतः इस बात की महती आव-श्यकता है कि इस सांस्कृतिक विघटन के दूरगामी परिणामों के प्रति हम समय रहते जागरूक हो जायें और आंतरिक आदर्श तथा बाह्य जीवन के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयास हर स्तर पर प्रारम्भ कर दें।

ऐसा नहीं है कि भारतीय समाज का प्रबुद्ध वर्ग सांस्कृतिक संकट की आसन्न स्थिति की भयावहता से परिचित नहीं है। अपेक्षा इस बात की है कि यह प्रबुद्ध वर्ग सामान्य जनता को भी वस्तुस्थिति तथा उसके दुष्परिणामों के प्रति जागरूक करे। उन्नीसवीं शताब्दी में हुए सांस्कृतिक पुनर्जागरण का भारत साक्षी है। बीसवीं शताब्दी में पुनः सांस्कृतिक पुनर्जागरण की आव-श्यकता अनुभव की जाने लगी है। इस पुनर्जागरण के लिये अपनी संस्कृति को पुनः पहचानने एवं उसे प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है। भारतीयता को पहचानना अपनी संस्कृति के ज्ञान के अभाव में असंभव है। पुनः परिचित होने की इस प्रक्रिया में प्रबुद्ध वर्ग—चिंतक, दार्शनिक आदि—को आगे बढ़कर अपना उत्तरदायित्व वहन करना चाहिये। प्रबुद्ध वर्ग अपना योगदान, भ्रमित भार-तीय जनमानस को उसकी सांस्कृतिक विरासत से परिचित कर, उन्हें सशक्त जीवन-दर्शन सौंपकर, आंतरिक तथा बाह्य जीवन में सामञ्जस्य व एकसूत्रता स्थापित करने की शिक्षा देकर तथा स्वयं आदर्श प्रस्तुत कर, दे सकता है। संकट की इस विडम्बनापूर्ण स्थिति में यदि प्रबुद्ध वर्ग अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता, तो भारत के साथ-ही-साथ वह भी अपना अद्वितीय व्यक्तित्व तथा अपनी पहचान खो देगा। अतः आह्वान है प्रबुद्धों का कि वे अपने प्रति, समाज के प्रति तथा राष्ट्र के प्रति अपने इस महान एवं गम्भीर कर्तव्य को निभाने के लिए निर्भीकतापूर्वक कर्मक्षेत्र में प्रविष्ट हों।

# अध्यात्मविद्या और दर्शन

—डा० बी०एन० पण्डित
श्री रणवीर विद्यापीठ, जम्मू

पाश्चात्य देशों में दर्शन विद्या मानव बुद्धि के वैभव की एक विशिष्ट उपज है। भारत में भी मानव बुद्धि ने दर्शन विद्या के विकास में काफी सहयोग दिया परन्तु यहाँ के मूल दार्शनिकों ने अपने सिद्धान्तों और अपने उपदेशों को अपनी बुद्धि के सूक्ष्मतर परिस्पन्दों की अपेक्षा सत्य के अपरोक्ष साक्षात्कार पर ही ठहराया और बुद्धि को तदनुसार ही मोड़ लिया। इसीलिये पाश्चात्य दार्शनिक विद्वान अब भी भारतीय दर्शन विद्या को रहस्यवाद की कोटि में गिनते हुए इसे प्रायः Philosophy की पदवी देने में पर्याप्त संकोच का अनुभव करते हैं। वस्तुतः दर्शन मूलतः और वस्तु है और Philosophy और वस्तु है। Philosophy तीव्रतर बुद्धि के परिस्पन्दों द्वारा ठहराई हुई कल्पना है। बुद्धि के वे परिस्पन्द मानवीय संस्कारों का आश्रय लेते आए हैं। संस्कार प्राक्तन अनुभवों के आधार पर अङ्कित हो जाते हैं। मानवीय अनुभूतियों का आधार है मानव की अतीव संकुचित ज्ञान शक्ति और वैसी ही क्रिया शक्ति। उन दो सीमित शक्तियों के द्वारा मानव तत्त्व जिज्ञासा के क्षेत्र में जो भी जान सका, जो कर सका और जो उस ज्ञान और क्रिया का आसरा लेले कर कल्पना द्वारा ठहरा सका, उसी ठहराए हुए सिद्धान्त को मानव बुद्धि ने Philosophy के रूप में प्रकट किया।

भारत के तत्त्व जिज्ञासुओं ने अपनी सीमित बुद्धि पर पूरा विश्वास न रखते हुए योग के अभ्यास के द्वारा सत्य की खोज की। उनकी खोज का मुख्य विषय बने मानव जीवन और उसकी समस्याएँ। मानव और उसका संसार आया कहाँ से? आया कैसे? आया ही क्यों? इसका सर्वोच्च अन्तिम प्रयोजन क्या है? उस प्रयोजन को पाने के कौन से उपाय हैं? ऐसे-ऐसे प्रश्नों की उलझन में पड़े हुए भारतीय दार्शनिकों ने योगविद्या का आश्रय लिया। वह विद्या उन्हें इस व्यावहारिक जीवन से ऊपर की ओर खींच कर ले गई और व्यावहारिक स्तर से ऊपर ठहरे हुए जीवन के स्वभाव का उन्हें दर्शन करा दिया। जीवन के उस व्यावहारिक स्तर से ऊपर ठहरे हुए स्वभाव के साक्षात्

दर्शन को उन्होंने 'दर्शन' यही नाम दिया।

जीवन का व्यावहारिक स्वरूप जो जन साधारण के अनुभव में आता है उसके दो प्रकार हैं। एक में बाह्य इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, शरीर के अङ्ग और बाहरी साधन मिलजुलकर जीवन के व्यापारों को चलाते रहते हैं। वे व्यहार हैं जानना और करना। अतः ज्ञान और क्रिया ही जीवन के मुख्य लक्षण हैं। मरते हुए रोगी की परीक्षा करते समय लोग यही जानने का यत्न करते हैं कि क्या वह कुछ जान सकता है और कर सकता है। यदि कुछ भी न तो जान ही सके और न कर ही सके तो निश्चय हो जाता है कि इसके जीवन का अन्त हो गया। जाग्रत् अवस्था में जीवन का ऐसा स्वभाव होता है। जीवन का दूसरा भी प्रकार है जिसका स्वप्न अवस्था में अनुभव होता है। उस अवस्था में प्रायः सभी प्रकार के ज्ञान के और क्रिया के व्यवहारों का अनुभव होता रहता है, परन्तु वे व्यवहार केवल अन्तःकरणों ही के द्वारा किये जाते हैं। गहरा चिन्तन, मनोराज्य, एकतान सङ्कल्प और बड़ी-बड़ी मानस कल्पनाएँ आदि व्यवहार भी प्रायः केवल अन्तःकरणों ही के द्वारा किये जाते हैं। मानव जागता हुआ भी इन व्यवहारों में प्रायः बाह्य इन्द्रियों का, शरीर का, बाह्य साधनों आदि का उपयोग नहीं करता। अतः जीवन के ऐसे व्यापारों को भी स्वप्न जीवन में ही गिना जा सकता है। पाश्चात्य दार्शनिकों की दर्शन विद्या जीवन के इन दो प्रकारों में होने वाले अनुभवों के आधार पर ही ठहराई गई हैं।

भारत में इन दो प्रकार के जीवन के ज्ञान को दर्शनविद्या में विशेषतया गिना ही नहीं जाता। यहाँ मूलतः उस विद्या को दर्शन कहा गया जिसका आश्रय और स्रोत वे आध्यात्मिक अनुभव बने जिनका उद्गम तब हुआ जब मानव का जीवन व्यापार जाग्रत् और स्वप्न की अवस्थाओं को पार करके जीवन के आन्तरिक स्वरूप का दर्शन करने में सफल हुआ। जीवन के उस आन्तरिक स्वरूप का दर्शन भारतीय दार्शनिकों को प्रायः योग के अभ्यास के द्वारा प्राप्त होता रहा। योग विद्या भारत की अत्यन्त प्राचीन विद्या है। इस विद्या का पर्याप्त प्रचार यहाँ सिन्धु घाटी की सभ्यता के युग में विद्यमान था। योगविद्या में भी जो सर्वोत्तम साधना है, उसे शाम्भव योग कहते हैं। उस योग का अभ्यास प्रारम्भ में एक विशेष प्रकार की देह मुद्रा की सहायता से किया जाता है। उस मुद्रा को शाम्भवी मुद्रा कहते हैं। उस शाम्भवी मुद्रा में स्थित एक योगी की प्रस्तर मूर्ति मोहनजोदड़ो में मिली है। और भी अनेकों योग-मुद्राएँ सिन्धुघाटी की सभ्यता के अवशेषों में कई एक स्थानों पर मिली हैं। इन अवशेषों से यह सिद्ध होता है कि योगविद्या के द्वारा प्राप्त अनुभूतियों के आधार पर ठहराई हुई भारत की दर्शन विद्या कम से कम उतनी प्राचीन है जितनी प्राचीन सिन्धुघाटी की सभ्यता है।

आगे उस शाम्भवी मुद्रा का वर्णन भगवद्गीता के छठे अध्याय में विशेष विस्तार से किया गया है। इसकी रहस्यात्मक अभ्यास विधि के विषय में याज्ञवल्क्य स्मृति में यतिधर्म प्रकरण में काफी स्पष्ट संकेत मिलते हैं। कालिदास के कुमारसम्भव के तीसरे सर्ग में तो इस मुद्रा का एक जीता-जागता चित्र खिचा हुआ मिल जाता है। अवधूत-गीता में इसका नामोल्लेख विद्यमान है। त्रिपुरा रहस्य में इसकी ओर संकेत हैं। इस तरह से भारत की यह उत्कृष्टतर योगविद्या इस देश में लगातार ही चलती आती रही।

योगसमाधि अभ्यासी को जीवन के दो स्वरूपों का दर्शन करा सकती है। उनमें से एक स्तर को सुषुप्ति अर्थात् गहरी निद्रा कहते हैं। उस निद्रा में केवल एक आत्मस्वरूप ही चमकता रहता है। अन्तःकरणों के व्यापार भी लुप्त हो जाते हैं और प्राणी न तो कुछ सोचता ही है और न समझता ही है। हाँ, जागने पर इस बात की स्मृति बनी रहती है कि "आज ऐसे सोए कि स्वप्न भी कोई नहीं देखा।" तो स्वप्न के अभाव का दर्शन वहाँ आत्मस्वरूप को अवश्य होता रहा, जिसके संस्कार के आधार पर ऐसा कहा जा सका। भारतवर्ष के अधिकांश दर्शनकारों को ऐसी सुषुप्ति ही की अवस्था के जीवनस्वभाव का दर्शन होता रहा। तदनुसार ही उन्होंने जीवनदर्शन की व्याख्या की। वह सुषुप्ति अगाढ़, गाढ़, गाढ़तर, गाढ़तम आदि प्रकारों से अनेक रूपों में ठहरी हुई योगज-अनुभूति में चमकती रही तदनुसार दर्शनकार भी जीवन-दर्शन का निरूपण अनेक प्रकार से करते आए।

सुषुप्ति के निम्नतर स्तर पर आभासमान जीवन दर्शन का स्वरूप न्याय-वैशेषिक दर्शनों के गुरुओं को हुआ। तदनुसार उन्होंने जीवन के चरम लक्ष्य को अपवर्ग नाम दिया और उसका उपाय बताया सांसारिक पदार्थों का यथार्थ ज्ञान और योग का अभ्यास। उन दोनों में सफलता के लिए उन्होंने महेश्वर की उपासना का भी उपदेश किया। अपवर्ग नाम की सुषुप्ति में उन्होंने आत्मा को शुद्ध चैतन्य के रूप में देखा। उसमें ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा आदि विशेष गुणों के व्यपारों के प्रति योग्यता के होते हुए भी इनके प्रति जरा भर भी प्रवृत्ति को पाया नहीं। तभी उसे उन्होंने अपवर्ग नाम दिया। मेदिनीकोष में अपवर्ग के अर्थ अनेक बताये गये हैं, जैसे—त्याग, मोक्ष, क्रिया का अन्त और सफलता। न्याय वैशेषिक की अपवर्ग दशा में प्राणी सारी की सारी पृवृत्ति का पूरी तरह से त्याग करता है। उसे संसृति से और संसृति-जन्य कष्टों से मोक्ष मिल जाता है। प्रवृत्तिशून्यता के कारण उसको क्रिया-शीलता का अन्त हो जाता है। समस्त कष्टों से छुटकारा पाना ही उसके जीवन का साफल्य है। तो यह अपवर्ग दर्शन सुषुप्ति दशा का पहला सोपान है।

उस दशा के दूसरे सोपान को कैवल्य नाम दिया गया। उसकी अनुभूति सांख्य और योग नामक दर्शनों के गुरुओं को होती रही। सुषुप्ति के इस सोपान पर ठहरे हुए प्राणी के भीतर ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा आदि विशेष गुणों के व्यापारों के प्रति सामर्थ्य भी शेष नहीं रहती है। तभी तो उन्होंने इन व्यापारों को पुरुष के धर्म न मान कर बुद्धि के धर्म ही माना। सांख्य योग के आचार्यों को योगजन्य समाधि से आत्मा की उस स्थिति का साक्षात् दर्शन होता रहा जिस स्थिति में आत्मा की बुद्धि के भीतर ऐसा विवेक ज्ञान उद्बुद्ध हो जाता है कि यह बन्धमोक्ष आदि का प्रपञ्च सारे का सारा बुद्धि का है। पुरुष का इससे कोई भी वास्ता है ही नहीं। उसकी बुद्धि जब इस अनुभूत सत्य का पक्का निश्चय कर लेती है, तो प्रारब्ध कर्मों के क्षीण होते ही जब प्राणी का शरीर छूट जाता है तो उसकी बुद्धि उसे छोड़कर समस्त अन्तःकरणों के समेत मूल प्रकृति में विलीन हो जाती है। ऐसे प्राणी के पास न कोई इन्द्रिय, न मन, न अहङ्कार, न कोई सूक्ष्म शरीर आदि ही रहने पाता है। वह सब कुछ मूल प्रकृति में विलीन हो जाता है। तो ऐसा प्राणी सर्वथा अकेला रहकर शून्य गगन की तरह विश्रान्ति में पड़ा रहता है। उस अत्यन्त अकेलेपन को ही कैवल्य (केवलस्य भावः) नाम दिया गया। इस कैवल्यदर्शन को सुषुप्ति के दूसरे सोपान का दर्शन मानिए।

सुषुप्ति के तीसरे स्तर पर प्राणी की चेतना में प्रपञ्चशून्यतामयी शान्ति के सुख का जराभर आभास बना रहता है। दर्शन के उस स्तर पर विज्ञानवादी बौद्ध साधकों की अनुभूति पहुंची। उन्हें केवल एकमात्र शुद्ध विज्ञान के प्रवाह की अनुभूति हुई। शून्यवादियों की साधना में उस प्रशान्त चेतना की प्रवहणशील अहन्ता के प्रवाह का भी उच्छेद-सा जब हो जाता है तो वे सुषुप्ति के चतुर्थ सोपान पर पूर्ण विश्रान्ति को प्राप्त करते हैं। इन शून्यवादी बौद्धों ने बुद्धि के बल से यह निर्णय लिया कि अहंरूप विज्ञान की परम्परा उस तरह से समाप्त हो जाती है जिस तरह तेल के समाप्त हो जाने पर दीपक की ज्योति की परम्परा बुझ जाती है। बुझने को ही निर्वाण कहते हैं। अतः उन्होंने गाढ़तम सुषुप्ति के दर्शन को "निर्वाण" ऐसा नाम दिया। विवर्तवादी अद्वैत वेदान्ती भी प्रायः सुषुप्ति के इसी शिखर पर टिके रहते हैं। हाँ, अन्तर इतना अवश्य होता है कि वे आत्म-चेतना की सत्ता, चित्ता और शान्तिमयी आनन्दरूपता के भी दर्शन करते ही रहते हैं। इस तरह सुषुप्ति के उस अन्तरतम केन्द्र में स्थित उन साधकों को तुर्या दशा का भी जरा भर उन्मेष होता रहता है, तभी वे शून्यवाद से ऊपर नित्य शान्त चैतन्यवाद के चमत्कार का आस्वादन करते रहते हैं।

तुर्यादशा उस दशा को कहते हैं जिसमें प्राणी का अपना वास्तविक

स्वरूप स्वयं अपने ही चित्प्रकाश से देदीप्यमान होता हुआ स्वयं, अपने आप ही, अपने आप का ही दर्शन करता रहता है। उसी दर्शन के विषय को लेकर के महाकवि कालिदास ने भगवान् शिव के विषय में कहा है—

मनो नवद्वार निषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ।। (कु०सं०)

इस तुर्या का दर्शन ही सत्य दर्शन है। इस दशा में प्राणी अपने आपको शुद्ध, अपरिमित और असीम चैतन्य ही के रूप में देखता हे। उस चैतन्य का स्वभाव असीम और भावात्मक आनंद होता है। इस तरह से साधक यहाँ चिदानंदस्वरूप अपने आप का साक्षात् दर्शन करता रहता है। सुषुप्ति वाला आनन्द दुःखाभाव ही होता है, भावात्मक पदार्थ नहीं होता है। इस तुर्या दशा के भी कई एक सोपान हैं। इसकी पहली सीढ़ी पर ठहरे साधक अपना दर्शन शुद्ध और असीम चेतना के रूप में करते तो हैं, परन्तु अपने भीतर पारमेश्वरी शक्ति का दर्शन उन्हें नहीं होता है। विवर्त्तवादी वेदान्तियों में जो उत्कृष्ट साधक होते हैं, जो केवल तर्क की ही रट न लगाते हुए किसी साधना का अभ्यास भी करते रहते हैं, वे इस ऐश्वर्यहीन शुद्ध चिदानन्द की स्थिति का अनुभवात्मक दर्शन करते रहते हैं। तभी तो वे परब्रह्म की परमेश्वरता को मिथ्या आभास रूप और अविद्या नामक उपाधि के कारण ही आभासित होने वाली मानते हैं। उनकी दृष्टि में जीव, ईश्वर और जगत्, तीनों ही वस्तुतः वन्ध्यापुत्र की तरह असत्य हैं।

अपने चिदानन्द स्वरूप के भीतर परमेश्वरता का दर्शन शैवों और शाक्त साधकों को हुआ करता है। उनके दर्शन में भी तीन प्रकार के सोपान हैं। निचले सोपान पर ठहरे प्राणी मन्त्र प्राणी या विद्येश्वर कहलाते हैं। उन्हें अपनी चित्स्वरूपता तथा परम आनन्द-स्वभावता का भी और स्वभावभूत परमेश्वरता का भी दर्शन होता रहता है, परन्तु फिर भी उन्हें जगत् और पूर्ण परमेश्वर अपने से भिन्न रूपतया ही दीखते हैं। इस तरह से उनका दर्शन शुद्ध होते हुए भी भेद प्रधान होता है। उन्हें अभेद का दर्शन होता नहीं। उनसे ऊपर वाली सीढ़ी पर ठहरे हुए प्राणी प्रमेय जगत को तथा अन्य प्राणियों को अपने से जराभर भेदमयी और जराभर अभेदमयी दृष्टि से देखते हैं। उनकी ऐसी भेदाभेदमयी दार्शनिक दृष्टि को शुद्ध विद्या कहते हैं। इन प्राणियों के भी दो वर्ग होते हैं। दोनों को इस भेदाभेद स्थिति का दर्शन होता रहता है। परन्तु एक वर्ग को अभेद में भी भेद का ही दर्शन प्रधानतया होता रहता है और दूसरे वर्ग को अभेद के भीतर भेद की केवल छाया जैसी पड़ी हुई दिखाई देती है। तुर्या के सर्वोच्च

सोपान पर भेद का आभास सर्वथा विलीन ही हो जाता है और एकमात्र परिपूर्ण और अभिन्न आत्म-चैतन्य ही शेष रहता है। ऐसे सोपान पर विचरण करने वाले सिद्धों को एकमात्र परिपूर्ण और सर्व-ऐश्वर्य-स्वभाव शुद्ध चैतन्य ही का दर्शन होता रहता है, उसी का विमर्शन वे परिपूर्ण 'अहम्' के रूप में करते रहते हैं। यही सर्वथा अभेदात्मक आत्मदर्शन वास्तविक दर्शन है। तुर्या के इन भिन्न-भिन्न स्तरों के भेदप्रधान, भेदाभेदप्रधान और सर्वथा अभेदप्रधान सोपानों पर आत्मा के उस-उस प्रकार के दर्शन शैव–शाक्त सिद्धों को होते रहे। जीवन की इस-इस प्रकार की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और उनमें विद्यमान भिन्न-भिन्न सोपानों पर ठहरे हुए आत्मस्वरूप के इन अनेकानेक प्रकार के साक्षात्कारों ही के आधार पर भारत के भिन्न-भिन्न दर्शनों का आविर्भाव और विकास हुआ। बुद्धिबल के द्वारा ठहराई गई प्रतिपादन करने की शैली इन दर्शनों के प्रशिक्षण, उपदेश, वाद-विवाद आदि में ही काम देती रही।

भारत के इतिहास के प्रारम्भिक युगों में श्रद्धा की प्रधानता थी। लोग गुरुओं के उपदेशों पर श्रद्धा रखते हुए तदनुसार साधन का अभ्यास करके स्वयं दर्शन तत्त्व का साक्षात्कार किया करते थे। कलियुग के ढाई सहस्र वर्षों के बीतने पर महात्मा बुद्ध यहाँ प्रकट हो गए। उन्होंने श्रद्धा को गौण बनाते हुए तर्क-वितर्क को प्रधानता दी। उनके अनुयायियों की परम्पराओं में तर्क विद्या का काफी विकास होता गया। उनको देखा-देखी वैदिक और आगमिक परम्पराओं के अनुयायियों ने भी तर्कविद्या को अपनाया। उसके फलस्वरूप लगभग एक सहस्र वर्ष की अवधि में इस देश में छः वैदिक दर्शनों, चार-पाँच प्रकार के वैष्णव दर्शनों, चार-पाँच प्रकार के शैव दर्शनों, चार बौद्ध दर्शनों और कई एक जैन दर्शनों का विकास हो गया। परन्तु फिर भी भारतीय दर्शन में बुद्धि की महिमा से पनपने वाली तर्कविद्या की अपेक्षा योगसाधना से अनुभव में आने वाली स्वरूप साक्षात्कृति को ही प्रधानता मिलती रही। इस तरह से यहाँ दर्शन (Philosophy) और अध्यात्म-विद्या दोनों ही विद्याएँ एक साथ मिलकर चलती रहीं। समय आने वाला है जब पाश्चात्य विचारक भी हमारी प्रयोगात्मक दर्शन विद्या को अपनाएँ। तब कहीं जगत का कल्याण हो सकेगा।

# भारतीय संस्कृति का महत्व और उसके अध्ययन की आवश्यकता

—डा० कृष्णकुमार

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम और महत्तम संस्कृति है, जिसकी श्रेष्ठता, महत्ता और उदारता का प्रतिपादन विश्व के सभी मनीषीजनों ने किया है। न केवल भारतीयजनों ने, अपितु विदेशों के विद्वानों तथा आलोचकों ने भी इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। आधुनिक समय में, जबकि अनेक भारतीय-जन पाश्चात्य प्रभाव से अभिभूत होकर अपनी विशिष्टताओं का परित्याग करने को तत्पर हैं, प्राचीन भारतीय संस्कृति का अध्ययन उनमें अपने पूर्वजों और प्राचीन परम्पराओं के प्रति गौरव की भावना भर सकता हैं तथा भारतवर्ष पुनः संसार के सर्वोच्च गौरवास्पद स्थान को प्राप्त कर सकता है।

भारतीय संस्कृति के कुछ विशिष्ट आधारभूत तत्व हैं, जो इसके स्वरूप और विशेषताओं को प्रतिपादित करते हैं। प्राचीन ऋषियों और मनीषियों ने मानव के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के विकास तथा संचालन के लिए अनेक नियमों और परम्पराओं का निर्धारण किया था। उनका उद्देश्य था कि मानव जीवन के प्रत्येक अङ्ग का, उसके शरीर-मन-आत्मा का विकास हो। मानव-जीवन का एकाङ्गी या एकपक्षीय विकास उनको इष्ट नहीं था। उन्होंने एक ओर जहाँ भौतिक उन्नति को प्रोत्साहन दिया, शरीर को पुष्ट करने तथा सांसारिक सुख-भोग को प्राप्त करने का निर्देश दिया, वहीं दूसरी ओर आध्यात्मिक उन्नति करने तथा धर्म, तप और मोक्ष को भी अनिवार्य बताया। भारतीय ऋषियों द्वारा विकसित आश्रम-व्यवस्था इसका स्पष्ट प्रमाण है। बाल्यावस्था में ब्रह्मचर्य आश्रम में मनुष्य शरीर और मन को पुष्ट बनाकर गृहस्थ आश्रम में सुखों का उपभोग करता है। तदनन्तर वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में वह आध्यात्मिक उन्नति और मोक्ष के लिए प्रयास करता है।

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता अन्य प्राचीन संस्कृतियों में नहीं है। प्राचीन मिश्र में सामान्य जन-जीवन में भोगवाद की प्रधानता थी। स्पार्टा में

शारीरिक विकास को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया था। एथेन्स की संस्कृति में मानसिक उन्नति को अधिक महत्त्व प्राप्त था। परन्तु ये सभी विकास एकाङ्गी थे। भारतीय संस्कृति में मानव-जीवन के सभी अङ्गों के विकास को प्रोत्साहित किया गया था।

भारतीय संस्कृति की यह भी विशेषता रही कि यहाँ केवल व्यक्तिगत उन्नति, विकास और सुख को ही महत्त्व नहीं दिया गया, अपितु उसके साथ सामूहिक उन्नति पर भी बल दिया गया। सामूहिक और सामाजिक हित के लिए व्यक्ति एवं कुल का बलिदान भी श्रेयस्कर समझा गया। वेदों में प्रार्थनाएँ की गई हैं कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को समष्टि की भावना से, सामूहिक हित की कामना से कार्य करना चाहिए। परस्पर सद्भाव रखना चाहिए। मन्त्रणाओं में, समितियों और विचारधाराओं में समानता होनी चाहिए।[1] वस्तुतः सामाजिक समानता, सद्भावना और परस्पर विश्वास भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ रहीं।

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति है। यह अतीत में भी महनीय थी और वर्तमान में भी जीवित है तथा महनीय महत्त्व रखती है। विश्व की अन्य प्राचीन संस्कृतियाँ (मिश्र, बेबीलोन, स्पार्टा, रोम, एथेन्स आदि की संस्कृतियाँ) अब केवल इतिहास का ही विषय रह गई हैं। परन्तु भारतीय संस्कृति अब भी जीवन्त है और नूतन विकास की ओर अग्रसर हो रही है। इसमें जीवन का स्पन्दन है। भारतवर्ष के करोड़ों नागरिक इससे प्रेरणा प्राप्त करते हैं। प्राचीन युग में भारतीय संस्कृति का जितना प्रचार हुआ, जितने विस्तृत प्रदेश में यह फ़ैली, विश्व की कोई अन्य संस्कृति इसकी समानता नहीं कर सकती। प्राचीन भारतीय संस्कृति के अवशेष अब भी अफगानिस्तान, ईरान, ईराक, सीरिया, लेबनान, दक्षिण रूस, चीन, मंगोलिया, जापान, तिब्बत, बर्मा, स्याम, कम्बोडिया, वियतनाम, मलाया, सुमात्रा, जावा, बाली आदि देशों और द्वीपों में उपलब्ध होते हैं। वहाँ के रीति-रिवाजों और भाषाओं पर भारतीयता की छाप स्पष्ट है। प्राचीन भारत का बहुत सा साहित्य, जिसका कि भारतवर्ष में उल्लेखमात्र रह गया था, इन देशों से प्राप्त हो सका है।

भारतीय संस्कृति की महनीय विशेषताओं ने विश्व के अन्य देशों, विशेष रूप से पाश्चात्य देशों के विद्वानों को, इसके अध्ययन के लिये प्रोत्साहित

---

१. समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
—ऋग्वेद १०।१९१।३

किया। इन्होंने इसका विशद अध्ययन करके इसकी अच्छाइयों और बुराइयों को विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया। परन्तु उनका अध्ययन प्राय: एकपक्षीय ही रहा था। जिन विद्वानों ने इसके उज्ज्वल पक्ष का अंशमात्र भी अवलोकन कर लिया, अपने गौरवमय ग्रन्थों में उन्होंने इसको प्रस्तुत किया। इसके मनोहारी, आकर्षक और दीप्तिमय स्वरूप का लोक में प्रकाशन हुआ। परन्तु भारतीय भावनाओं से अपरिचित अथवा पूर्वाग्रहों से ग्रस्त कुछ विद्वान् थोड़ा-बहुत इधर-उधर देखकर या सुनकर, भारतीय संस्कृति के स्वरूप को भयावह, घृणास्पद और बर्बरतापूर्ण ही चित्रित करते रहे। सम्भवत: उनका उद्देश्य यही था कि भारतीयों के हृदयों से स्वाभिमान की भावनाओं को नष्ट कर दिया जाय और विश्व के समक्ष भारतीयों का कुत्सित रूप ही रखा जाये।

पराधीनता के युग में अनेक भारतीयजन तथा विशिष्ट विद्वान् भी अपनी प्राचीन गरिमा को भूलकर, अपने अतीत के गौरवमय स्वरूप को कुत्सित समझ कर, इससे घृणा करते रहे। परन्तु अब आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय भावनाओं से परिचित मनीषी विद्वान् पुरुष अपनी प्राचीन संस्कृति के यथार्थ रूप का अन्वेषण करके इसका उद्घाटन करें। वे इसके उज्ज्वल पक्ष को विश्व के समक्ष प्रस्तुत करें। इस देश की प्राचीन गरिमा को अन्धकार के गर्त से निकाल कर भारतीयों में अतीत के प्रति गौरव और स्वाभिमान की भावना को सम्भृत करें।

भारतीय विद्वानों का कर्तव्य है कि प्राचीन संस्कृति का सर्वाङ्गपूर्ण विशद अध्ययन करें। वे देश की जनता को बतावें कि कभी भारतवर्ष विश्व का गुरु था। इसका गौरव सब देशों से अधिक था। इसने विश्व के अन्य देशों को सभ्यता का पाठ पढ़ाया था। भारत के प्राचीन गौरव को जानने के साथ ही राजनीतिक और सांस्कृतिक हीनता और पराधीनता के कारणों को भी जानना चाहिये। जिन भूलों के कारण हमारे देश को पराधीनता के पाशों में फँसना पड़ा और इसके गौरव का विनाश हुआ, उन भूलों की पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिये। कहीं ऐसा न हो कि वे भूलें पुन: दोहराई जावें तथा शताब्दियों की पराधीनता के बाद उदित हुआ स्वाधीनता का सूर्य पुन: अस्त हो जावे।

आज विश्व एक संक्रान्ति के युग से गुजर रहा है। विश्व के वैज्ञानिकों ने, विशेष रूप से पाश्चात्य देशों के वैज्ञानिकों ने, विभिन्न आविष्कार करके भौतिक सुखों को बहुत अधिक मात्रा में वृद्धि की है। पृथिवीलोक से परे चन्द्र-लोक, मंगललोक आदि लोकों की यात्रा करने के लिये मनुष्य कटिबद्ध है। जल, पृथिवी और आकाश पर उसका अधिकार है। इतना होने पर भी वह

सुखी नहीं है। विश्व में शान्ति नहीं है। आज का सभ्य मानव अपने ही किये आविष्कारों से भयभीत है। वह विनाश के कगार पर खड़ा है। जिन आविष्कारों द्वारा विश्व की गरीबी दूर की जा सकती थी और शान्ति का साम्राज्य स्थापित किया जा सकता था, वे ही आविष्कार आज सम्पूर्ण विश्व का विनाश करने के लिए आमादा हो रहे हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि आज का मानव उस संस्कृति का ही प्रसार कर रहा है, जो भौतिक सुखों को प्रधानता देती है, जिसका ध्येय शारीरिक उत्कर्ष और आर्थिक उत्पादन को ही प्रोत्साहन देना है।

आज का मानव भारतीय संस्कृति की उन भावनाओं से विमुख हो गया है, जो आध्यात्मिक भावनाओं, विश्व कल्याण की उत्कृष्टता तथा ईश्वरीय शक्ति के प्रति आस्था रखती हैं। भारतीय संस्कृति इस बात की शिक्षा देती है कि भौतिक सुखों का उपभोग करते हुए भी ईश्वरीय शक्ति को नहीं भूलना चाहिये। स्वार्थ की अपेक्षा विश्वकल्याण अधिक श्रेयस्कर है। शारीरिक विकास के साथ-साथ मनुष्य का आध्यात्मिक विकास भी होना चाहिये।

मानव का इतिहास, उसका अतीत, एक भावनात्मक पक्ष है। इससे वह पृथक् नहीं हो सकता। भारतवर्ष की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और नैतिक अवनति का एक प्रमुख कारण यह भी है कि यहाँ की जनता अपने अतीत के गौरव को भूलकर अपनी प्राचीन संस्कृति और परम्पराओं से अनभिज्ञ होती जा रही है। भारतवर्ष का सर्वाङ्गीण विकास तभी सम्भव है, जबकि भारतीयजनों का अतीत को साथ लेकर वर्तमान के साथ सम्बन्ध हो। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हमें आधुनिक उन्नति को भूल जाना चाहिये और केवल अतीत के स्वप्नों में खो जाना चाहिये। हमको अतीत के गौरव को, इसके विकास को और जीवन के सिद्धान्तों को वर्तमान के साथ सम्बद्ध करना चाहिये। इसी से जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति सम्भव है। इसी उपाय से भारतीयजन पुनः विश्व में गौरवमय स्थान प्राप्त कर सकते हैं।

किसी समय भारतवर्ष विश्व का मूर्धन्य था, गुरु था। इसने विश्व को सभ्यता का पाठ पढ़ाया था। भौतिक और आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के ज्ञान का प्रसार किया था। यहाँ के विश्वविद्यालय विश्व में प्रसिद्ध थे। तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला, वलभी, उड्डयन्तपुर आदि विश्वविद्यालयों में विश्व के कोने-कोने से छात्र आकर विद्योपार्जन करते थे। यहाँ से स्नातक होने में वे गौरव का अनुभव करते थे। भारतीय आचार्यों ने सुदूर देशों में जाकर भारतीय विद्या, संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान का प्रसार किया था। महर्षि अगस्त्य और

परशुराम का नाम आज भी दक्षिण-पूर्वी एशियाई द्वीपों में आदर के साथ लिया जाता है। बर्मा, जावा, स्याम, बाली आदि देशों में भारतीय विद्याओं, साहित्य, धर्म और संस्कृति के प्राचीन अवशेष विद्यमान हैं। परन्तु भारतीय
साहित्य, धर्म और संस्कृति के प्राचीन अवशेष विद्यमान हैं। परन्तु भारतीय
विज्ञानों का प्रसार अरब देशों से होकर यूरोपीय देशों में गया। उसी के द्वारा वहाँ के वैज्ञानिकों ने चिकित्सा, गणित, ज्योतिष तथा अन्य विज्ञानों का विकास किया।

परन्तु आज अवस्था उलटी हो रही है। शताब्दियों की पराधीनता ने इस देश के गौरव को नष्ट किया। पश्चिमोत्तर सीमाओं से आने वाली यवन जातियों तथा समुद्रपारीय देशों से आने वाली गोरी जातियों ने भारतवर्ष पर आक्रमण कर यहाँ के विज्ञान को नष्ट करने के साथ ही स्वाभिमान के गौरव को नष्ट किया। आज भारतीय छात्र विदेशी ज्ञान को प्राप्त करने में अपने को अधिक सफल मानता है। उसको सीखे बिना एक भारतीय अपने को अधिक सुशिक्षित नही मानता। प्राचीन संस्कृति का अध्ययन इस परमुखापेक्षिता को दूर करता है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य है—भारतीयजनों में राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना को उद्बोधित करना। इसका प्रयोजन है—देश में भावनात्मक एकता की भावना को उद्दीप्त करना। इन प्रयोजनों को विफल बनाने वाले तत्त्व सैकड़ों-हजारों वर्षों से भारतीय जनता की उन्नति को रोकते रहे हैं। इससे भारत-राष्ट्र अवनति के गर्त में गिरा है। प्राचीन भारतीय संस्कृति का अध्ययन इन प्रतिगामी तत्त्वों का प्रतिरोध करके देश को नव-जागरण की चेतना से भरने में समर्थ होगा। भारतीयजन उन गौरवमय भावनाओं से सम्भृत होंगे और यह देश पुनः संसार का गुरु बनेगा। इसके ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति का पुनः सकल विश्व में प्रचार होगा। मनु का यह कथन पुनः सत्य होगा—

इस देश में उत्पन्न हुए श्रेष्ठ पुरुषों से पृथिवी के सभी मनुष्य अपने-अपने चरित्र की शिक्षा लें।[1]

---

१. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ (मनुस्मृति २।२०)

# क्या जातककालीन संस्कृति वैदिक संस्कृति है ?

—डा० विष्णुदत्त राकेश

बौद्ध साहित्य में जातकों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी पृष्ठभूमि में पुनर्जन्म का सिद्धान्त निहित है। पुनर्जन्म कर्मवाद का प्रतिष्ठापक सिद्धान्त है। हिन्दू धर्म पुनर्जन्मवादी है और पाप-पुण्य की सत्ता में विश्वास करता है। पूर्वजन्म के पाप-पुण्य के आधार पर ही प्राणियों को विविध योनियों में जन्म लेना पड़ता है। बुद्ध ने कहा भी है—जो प्राणी सत्य का प्रकाश प्राप्त करता है, मूढ़ की तरह नहीं मरता, वह मरने के बाद सुगति भी प्राप्त कर लेता है—इसके विपरीत चलने वाले को मरने के बाद भी सुगति नहीं प्राप्त होती।

पुन च परं गहपतियो, दुस्सीलो सील विपन्नो कायस्स भेदा परं मरणा अपायं दुग्गतिं विनिपातं निरयं उपपज्जति।

जातकों के माध्यम से समस्त जीवों को एकता के सूत्र में बँधने की प्रेरणा दी गई है। यह 'मैत्रीधर्म' मानवों तक ही सीमित नहीं, अपितु इसका प्रसार पशु-पक्षियों तक दिखाया गया है। भागवतधर्म का सर्वात्मवादी सिद्धान्त ही इस धारणा के मूल में काम कर रहा है। आर्य पतंजलि ने मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा को मानव के संस्कार सम्पन्न हृदय की मूल विशेषताएँ माना था। हाथी से लेकर कीड़ी तक तथा ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक के प्रति हृदय में मैत्री-भाव रखकर ही प्राणी सुखी रह सकता है। जातकों में इस बात को बार-बार दुहराया गया है।

आख्यानों की दृष्टि से भी जातक कथाएँ अभारतीय नहीं हैं। महाभारत, श्रीमद्भागवत, रामायण आदि की मूल कथाएँ कुछ परिवर्तनों के साथ जातकों में मिलती हैं। क्योंकि इन जातकों की भाषा संस्कृत न होकर पालि है और बुद्धदेव जन सामान्य में काम करते हुए संस्कृत की अपेक्षा जनभाषा को महत्त्व देते हैं, अतः संस्कृत का वैध प्रभुत्व छीन कर वह जनभाषा को प्रतिष्ठित करना

चाहते हैं। इसका दुष्परिणाम भी हुआ। दशरथ, राम, कृष्ण आदि के चरित्रों में भयानक उलट-फेर हुए और बाद में जैन साहित्य में तो उनका अत्यन्त विकृत रूप सामने आया। ब्राह्मण वर्ग पर तथा उनके साहित्य पर यह प्रहार किसी कूटनीति के अन्तर्गत हुआ। जिस प्रकार महाभारत में भीष्म पितामह धर्म और राजनीति को मिलाकर चलने के पक्षपाती हैं तथा 'भीष्मेण विहितं राष्ट्रे धर्मचक्रमवर्त्तत' के अनुसार शासन व्यवस्था में धर्म का शासन ऊपर रखते हैं, वैसे ही बुद्ध भी करते हैं। राजा के धार्मिक-अधार्मिक रूपों का चित्रण जातकों में हुआ है। दण्ड व्यवस्था, राजकीय उत्तराधिकार, शील, सदाचार तथा समाज के विविध रूपों का चित्रण भी यहाँ उपलब्ध है।

वेदों की तरह बुद्ध भी जाति-भेद जन्मना नहीं कर्मणा मानते हैं। मनु ने कहा है — 'जन्मना जायते शूद्रः, संस्कारात् द्विज उच्यते'। बुद्ध कहते थे, साँप और छिपकली में जो भेद हैं, वह लिङ्ग का है और मनुष्य-मनुष्य में जो भेद है, वह संज्ञा का है। अम्बट्ठ माणवक के प्रश्नों के उत्तर में बुद्ध ने ऐसा ही उत्तर दिया। उनका कथन था—मैं न तो ब्राह्मण हूं, न राजपुत्र या न वैश्य या और कोई। साधारण लोगों के गोत्र को अच्छी तरह जानकर ही मैं विचारपूर्वक अकिंचन भाव से संसार में विचरण करता हूं—

मा जातिं पुच्छ चरणं न पुच्छ
कट्ठा हवे जायति जातवेदो।
नीचा कुलीनोपि मुनि धितीमा
आजनियो होति हिरीनिसेधो।

अर्थात् जाति के विषय में न पूछो, आचरण के विषय में पूछो। लकड़ी से आग पैदा होती है। इसी प्रकार नीच कुल में पैदा होकर भी मुनि धृतिमान्, उत्तम और पाप लज्जा से संयत होते हैं।

जातक युग में आजीवक, निगंठ, सावक, जटिलक, परिव्राजक, मगण्डिक, तेडण्डिक, अविरुद्धक, गोतमक तथा देवधम्मिक सम्प्रदाय मुख्य थे और इसके अतिरिक्त भी श्रमण और ब्राह्मणों में बहुत से सम्प्रदाय थे। गृहस्थों में आतिथ्य और दान को महत्त्व दिया जाता था।

वैदिक युग में नारियों को समाज में जो उच्च पद मिला था तथा ब्रह्मवादिनी होने के गौरव से जिसकी अप्रतिम छवि निर्धारित हुई थी, वह बुद्ध तक आते-आते खण्डित हो गई। जातकों में यह धारणा भी मिलती है कि

स्त्रियाँ वध करने योग्य हैं। उनमें सत्य नहीं होता।

वज्झित्थियो नत्थि इत्थीसु सच्चं

महापदुम जातक में तो स्त्री को इतना पतित दिखाया गया है कि एक सौतेली माँ अपने सौतेले पुत्र के साथ अनाचार करने के लिए व्यग्र हो जाती है। इस तरह की धारणायें वैदिक दृष्टि के विपरीत हैं। भिक्षधर्म के कारण स्त्री की निंदा एक सीमा तक तो ठीक है पर इतनी नहीं कि स्त्रीजाति अविश्वास, घृणा और तिरस्कार की भट्टी में सदा-सदा के लिए जलती रहे। अंडभूत जातक में तो कहा गया—स्त्रियाँ सँभाल कर नहीं रखी जा सकतीं—

तासु को जातु विस्से

शिक्षा का जो क्रम वैदिक युग में था, वह जातक युग तक बराबर बना रहा। वेदाध्ययन का महत्त्व घटा नहीं। वेद-वेदाङ्ग, धर्मशास्त्र, दर्शन आदि का अध्ययन बराबर होता रहा। सेलसुत्त में शैल नामक एक ऐसे ब्राह्मण का वर्णन है जो वेद, निघण्टु का अध्यापन करते हुए भी लोकायत शास्त्र का अध्यापन करता था। डा० अल्तेकर ने लिखा है कि विद्यार्थी उपनयन के तत्काल बाद ही नहीं बल्कि १४, १५ वर्ष की उम्र में भी जब वे सुदूर स्थानों पर जाने योग्य हो जाते, गुरुकुलों में भेज दिए जाते थे। गुरु-शिष्य का सम्बन्ध भी पिता-पुत्र के समान था। जातकों में इस तथ्य का उल्लेख बार-बार हुआ है। स्त्री भी विदुषी होती थी। चुल्लकालिंग जातक से पता चलता है कि श्रावस्ती में बुद्ध के प्रधान शिष्य सारिपुत्त को शास्त्रार्थ के लिए चार विदुषी स्त्रियों ने चुनौती दी।

वैदिक युग में जौ की रोटी, चावल, पुआ, सतू, मूँग, दधि, दूध तथा मधु का आहार होता था। मधु, ईख, लवण का प्रयोग भी बाद में होने लगा। माँस का प्रयोग नहीं होता था। पाश्चात्य विद्वानों ने आर्यों के माँस खाने के सम्बन्ध में ऊट-पटाँग लिखा है। बृहदारण्यक के 'मांसौदनं पाचयित्वा' जैसे लेख उन्होंने सामने रखे हैं पर वस्तुतः यहाँ 'माष' शब्द था, बाद में कुचक्रियों ने माष या उड़द के स्थान पर माँस लिखकर यह दुष्प्रचार किया कि आर्य माँस खाते थे। ऋग्वेद में लिखा है—'क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि' मैं माँस खाने वाली अग्नि को दूर करता हूं। अतः माँस को अग्नि में भूनकर खाने का प्रश्न ही नहीं उठता। यजुर्वेद से पता चलता है कि आर्य पशु हिंसा से डरते थे। वह गाय तो क्या भेड़, बकरी की भी हत्या नहीं करते थे—

'पशून् पाहि, गां मा हिंसीः अजां मा हिंसीः अविं मा हिंसीः।'

महाभारत में राजा वसु के व्याज से कहा गया है कि उसके यज्ञ में पशुवध नहीं होता था—

न तत्र पशुघातोऽभूत् स राजैरस्थिरोऽभवत्

जातक युग में यह परम्परा लुप्त हो चली थी। सहभोज बंद हो गए थे। वर्ण-भेद के साथ खान-पान बदल गया था। माँस तथा कसाईखानों (सूनागृह) की चर्चा जातकों में है। वारुणी जातक से तो शराबखानों का भी पता चलता है। सिरी जातक में तो एक ब्राह्मण ही मुर्गा माँगता है। तेलोवाद जातक से पता चलता है कि सिंह सेनापति ने बुद्ध को माँस भोजन कराया। इससे श्री बुद्धदेव का अच्छा रूप सामने नहीं आता। करुणा और दया की मूर्ति के बारे में ऐसा लिखते हुए लेखक को आत्मग्लानि न हुई, घोर आश्चर्य है।

जनजातियों के धार्मिक विश्वासों, आचार-विचारों और रहन-सहन का पता भी जातकों से लगता है। यक्ष, किन्नर, नाग आदि की पूजा की चर्चा भी हुई है। यह कम आश्चर्य नहीं कि श्री बुद्धदेव ने आर्यों की यज्ञोपासना पर तो प्रहार किया पर तंत्र मंत्र यक्ष वृक्षादि पूजन जैसे पाखण्डपूर्ण कृत्यों का विरोध नहीं किया। हिन्दू जाति इस रूढ़िवाद के चक्र में बहुत दिनों तक पिसती रही। महर्षि दयानन्द तक के २५०० वर्षों में इस आसुरी उपासना प्रणाली का प्रचार-प्रसार होता रहा। पहली बार महर्षि दयानन्द ने जन साधारण को इस गर्हित स्थिति से उबारने का उद्यम किया।

वैदिक ऋषियों की तरह बुद्धदेव ने भी गृहस्थ के आदर्श धर्म की प्रतिष्ठा की। संयुत्त निकाय में उन्होंने कहा है कि वह सत्पुरुष श्लाघ्य है जो जीवन पर्यन्त उदार वृत्ति से गृहस्थ-धर्म का पालन करता है, त्याग, शील एवं दान में निरत रहता है। जनसंघ जातक में ऐसे आदर्श गृहस्थ और गणतंत्रीय आचार की जो विशेषताएँ बताई गई हैं, वे वेदों के विपरीत नहीं। वैदिक ऋषियों ने राष्ट्र निर्माण में योग देने वाले हर छोटे-बड़े को समान महत्व दिया है। राष्ट्र पर, उसकी सम्पत्ति पर और समाज के हर लाभ पर सबका समान अधिकार है और सदुपयोग की सुविधा है पर यह सब अपने स्वार्थ के लिए नहीं, मानवमात्र के कल्याण के लिए है—'सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।' बुद्धदेव ने भी कहा—जो पुत्र, धन, राज्य की कामना भी अपने या अन्यों के लिए नहीं करता और न अधर्म से उन्नति चाहता है, वही प्रज्ञावान् और धार्मिक है।

न अत्त हेतु न परस्स हेतु न पुत्तमिच्छे न धनं न रट्ठं
न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो स सीलवा पञ्ञावा धम्मिको सिया।

यह एक छोटा सा चित्र है, जातककालीन संस्कृति का। इसमें हिन्दू धर्म की विकृतियाँ और विशेषताएं स्पष्ट लक्षित होती हैं। वर्ण, आश्रम, शासन, खान-पान, वेशभूषा, शिक्षा, राजनीति, धर्म, कूटनीति, उत्थान तथा पतन की स्थितियों का सजीव चित्रण मिलता है।

अतः अब यह विचार करना चाहिए कि जातकों की रचना मूलतः राजनीति प्रधान दृष्टि से हुई है या धार्मिक दृष्टि से। श्री बुद्धदेव का संन्यस्त होकर भी राजसत्ता से उलझते रहना इस प्रश्न को जन्म देता है।

# वैदिक संस्कृति का मूल मंत्र "राष्ट्रीय एकता"

—डा० हरगोपाल सिंह
प्रोफेसर, मनोविज्ञान विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार

वैदिक संस्कृति सदैव से राष्ट्र में एकता की दृढ़ स्थापना की पोषक रही है। एकता में ही बल है और राष्ट्र की रक्षा के लिए बल की नितान्त आवश्यकता होती है। वेद कालीन ऋषि इस सत्य को अच्छी प्रकार जानते थे। इसीलिए वेदों में राष्ट्रीय एकता का प्रसंग बार-बार मिलता है। यह एकता कैसी हो, किस प्रकार स्थापित की जाय, किस प्रकार इसकी रक्षा की जाय और राष्ट्र के किन-किन घटकों में इसकी कितनी आवश्यकता है इन सभी विषयों पर वैदिक मन्त्र पर्याप्त प्रकाश डालते हैं, जोकि चारों वेदों में मिलते हैं।

## १. राष्ट्र में एकता

अथर्व वेद के बारहवें काण्ड का प्रथम सूक्त भूमि अथवा राष्ट्र सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। राष्ट्र प्रेम और वीर भाव से ओत-प्रोत इस सूक्त में तिरेसठ मन्त्र हैं जिनमें मातृभूमि की विविध रूपों में महत्ता प्रकट की गई है। बारहवें मंत्र में "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" कहकर मातृभूमि पर रहने वाले समस्त मनुष्यों को मातृभूमि की सन्तान बताया है और दसवें मंत्र में "माता पुत्राय मे पयः" कहकर मनुष्य का राष्ट्र से बेटे और माँ का सम्बन्ध बताया है। पैंतीसवें मंत्र में "मा ते हृदयम् अर्पिपम्" कहकर राष्ट्र को नुकसान से बचाने के लिए कहा है। अर्थात् जैसे कोई भी व्यक्ति अपनी माँ का अपमान अथवा अहित सहन नहीं कर सकता वैसे ही सभी नागरिकों को राष्ट्र का अहित कदापि सहन नहीं करना चाहिए। बाहर किसी भी तरफ से शत्रु आए हमें चारों दिशाओं से आक्रमण करके शत्रु को परास्त कर भगा देना चाहिए। यदि आन्तरिक दुष्ट तत्वों द्वारा कहीं राष्ट्रीय सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाया जा रहा हो तो तुरन्त उसे रोकना चाहिए। विघटनकारी तत्व राष्ट्रद्रोही हैं।

वैदिक मंत्र राष्ट्र के सभी मुख्य घटकों में एकता बनाए रखने की प्रेरणा देते हैं—जैसे शासक और जनता में, राज्य सभासदों में, पारिवारिक जनों में; सामाजिक प्राणियों में, विभिन्न जाति और धर्मों के मानने वालों में इत्यादि। यजुर्वेद के एक (२०।८) मंत्र में शासक कहता है कि "विशो मे अंगानि सर्वतः" अर्थात् प्रजाजन ही मेरे शरीर के सब प्रकार के अङ्ग और अवयव हैं। इससे स्पष्ट है कि वेदों में शासक और प्रजा की एकता का आदर्श कितना उच्चस्तरीय और अभिन्न है। जब प्रजाजन शासक के अङ्ग हैं तो जनता का दुःख शासक का दुःख है जिसे शासक को दूर करना चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर जनता के घर भी जाना चाहिए। वह सभी मानवों के साथ एक-सा व्यवहार करे और भेदभाव न करे।

## २. राजसभाओं में एकता

ऋग्वेद का अन्तिम (१०।१९१) मण्डल राजसभाओं में एकता का अत्यन्त दिव्य वर्णन निम्न प्रकार प्रस्तुत करता है—

सङ्गच्छध्वं, सं वदध्वं, सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे, संजानाना उपासते ॥

—ऋग्वेद १०।१९१।२

"हे मनुष्यो! आप सब लोग एक साथ मिलकर चलो, मिलकर समान वचन बोलो, एक-सा सोचो। जैसे आपके विद्वान् पूर्वज सब सत्कर्मों को जीवन में एक होकर करते रहे हैं वैसे आप भी करते रहो।"

समानो मंत्रः, समितिः समानी, समानं मनः, सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रम्, ऽभिमन्त्रये वः, समानेन वो हविषा जुहोमि ॥

—ऋग्वेद १०।१९१।३

"आप सबका ध्येय एक हो, राजसभाओं के निर्णय सर्वसम्मति से एक हों, आपके मानसिक विचार और सङ्कल्प एक-से हों। हम आपको एक समान लक्ष्य, साधन और उपलब्धियों के लिए प्रेरित करते हैं।"

समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो, यथा वः सुसहासति ॥

—ऋग्वेद १०।१९१।४

"आप सबकी इच्छा व हृदय की भावना एक-सी हो। मन एक-से हों, ताकि आप परस्पर प्रेम और सहयोग पूर्वक अच्छा जीवन पालन कर सकें।"

राज्य की सभा, सम्मित्तियों में एकता की प्रेरणा देने वाला यह सूक्त वेद के समतापूर्ण दृष्टिकोण का ज्वलन्त उदाहरण है। सभी सभासदों को विवाद रहित होकर समान जनकल्याण का मार्ग अपनाना चाहिए ताकि राष्ट्र की उन्नति निरन्तर होती रहे।

## 3. परिवार में एकता

अथर्ववेद के तीसरे काण्ड के तीसवें सूक्त के पाँच मंत्र, परिवार में एकता बनाये रखने की प्रेरणा इस प्रकार देते हैं—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शांतिवाम्॥

—अथर्व० ३।३०।२

"परिवार में पुत्र पिता का आज्ञाकारी और माता के साथ प्रीतियुक्त मन रखने वाला हो। पत्नी अपने पति से मीठे वचन बोले ताकि परिवार में शांति रहे।"

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षत् मा स्वसारं उत् स्वसा।
सम्यंचः सव्रताः भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

अथर्व० ३।३०।३

"भाई भाई से और बहिन बहिन से द्वेष न करे, सभी समान लक्ष्य रखते हुए प्रेम की भावना से रहें।"

येन देवाः न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत् कृण्मः ब्रह्म वः गृहे सज्ञानं पुरुषेभ्यः॥

—अथर्व० ३।३०।४

"जिस प्रकार के व्यवहार से विद्वान् लोग परस्पर पृथक् भाव वाले नहीं होते और द्वेष नहीं करते मैं उसी व्यवहार को तुम्हारे परिवार के लिए निश्चित करता हूं। तुम्हें उसी मार्ग पर चलना है।"

ज्यायस्वन्तः चित्तिनः मा वि पौष्ट संराधयन्तः समधुराः चरन्तः ।
अन्यः अन्यस्मै वल्गु वदन्तः रात सध्रीचीनान् वः संमनसः कृणोमि ।।

अथर्व० ३।३०।५

"तुम लोग पूर्वजों के आशीर्वाद से अपने-अपने रिश्ते-नातों को जानते हुए अपनी कर्त्तव्य शक्ति को सबके समान ध्येय प्राप्ति के लिए प्रयुक्त करो। शुद्ध भावना से साथ-साथ रहो, द्वेष न करो। प्रिय व मीठे वचन बोलकर एक-दूसरे के समीप आओ। मैं तुम्हें एक साथ चलने वाला, सोचने वाला और शुभ-कर्म करने वाला बनाता हूं।"

समानी प्रपा, सह वः अन्नभागः, समान योक्त्रे सह वः युनज्मि ।
सम्यंचः अग्नि सपर्यत अराः नाभि इव अभितः ।।

—अथर्व० ३।३०।६

"तुम्हारे पीने के पानी का स्थान एक हो, भोजन सम्मिलित हो, मैं तुम्हें भ्रातृ भाव के समान प्रेम-सूत्र में बाँधता हूं। मिलकर ईश्वर की प्रार्थना करो और आपस में नियमित समान रूप से मिले रहो। जैसे पहिये के अरे एक केन्द्र के चारों ओर घूमते हैं उसी प्रकार तुम परिवार रूपी केन्द्र के चारों ओर बंधे प्रेममय व्यवहार करते रहो।"

## ४. समाज में एकता व समानता

उपरोक्त सूक्त का पहिला और सातवाँ मंत्र सामाजिक प्राणियों में एकता स्थापित करने के लिए इस प्रकार प्रेरणा देता है—

सहृदयं सौमनस्यं अविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यः अन्यं अभिहर्यत, वत्सं जातं इव अघ्न्या ।।

अथर्व० ३।३०।१

"मैं तुम्हें समान हृदय वाला बनाता हूं। तुम्हें आपसी द्वेष से मुक्त करता हूं। तुम एक दूसरे से इस प्रकार प्रेम करो जैसे गाय अपने नवजात बछड़े से प्रेम करती है।"

सध्रीचीनान् वः संमनसः कृणोमि, एकश्नुष्ठीन् संवनेन सर्वान् ।
देवाः इव अमृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसः वः अस्तु ।।

—अथर्व ३।३०।७

"मैं तुम सबको एक-सा व्यवहार करने वाला बनाता हूं। मिलकर सामाजिक कार्यों में भाग लो। तुम्हारे भोजन तथा जीवनयापन की सामग्री समान हो। देव पुरुषों की तरह तुम सद्कर्म और पुण्य के भागी बनो जिससे तुम्हारी सुबह और शाम शान्ति और प्रसन्नतादायक बनी रहे।"

ऋग्वेद के [५।५९।६ व ५।६०।५] मंत्रों में कहा है—

अज्येष्ठासः अकनिष्ठासः एते सं भ्रातरः वावृधु : सौभगाय

—ऋग्० ५।६०।५

ते अज्येष्ठाः अकनिष्ठाः उद्भिदः अमध्यमासः महसा वि वावृधुः

—ऋग्० ५।५९।६

राष्ट्र में सभी मनुष्य जन्म से समान हैं। न कोई बड़ा है न कोई मध्यम और न कोई छोटा है। इस समानता के भाव को धारण करते हुए सब ऐश्वर्य व उन्नति के लिये प्रयत्न करते रहें। सभी वर्गों के मनुष्यों के साथ समान व्यवहार के लिये अथर्ववेद (१९।६२।१) कहता है— "प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये" अर्थात् चाहे आर्य हो चाहे शूद्र हो, राष्ट्र में सबके साथ समान नियम लागू होने चाहिये। ऋग्वेद में कहा है—

मोघं अन्नं विन्दते अप्रचेता सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
न अर्यमणं पुष्यति न सखायं केवलाघः भवति केवलादी।।

—ऋग्वेद १०।११७।६

जो मनुष्य धन संचय करता है और उससे अपने मित्रों, बन्धुओं का भला नहीं करता तथा अकेला ही उसका खान-पान करता है वह पाप का भागी बनता है। अथर्ववेद में सहभाव के लिये सहभोजन पर इस प्रकार बल दिया है, "सहभक्षाः स्याम" [६।४७।१] अर्थात् हम मिल-बाँटकर खान-पान वाले हों।

अथर्ववेद का एक मंत्र (१२।१।४५) निम्न प्रकार प्रेरणा देता है—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।।

—अथर्व० १२।१।४५

"राष्ट्र में विभिन्न धर्मों, जातियों, भाषाओं, स्थानों और रीति-रिवाजों के मनुष्य रहते हैं किन्तु राष्ट्रहित के कार्यों में उनको अपनी भिन्नता भुलाकर एक साथ ऐसे दृढ़ होकर खड़े रहना चाहिये जैसे दूध देते समय गाय स्थिर खड़ी रहती है।"

इस मंत्र से स्पष्ट है कि हजारों वर्ष पूर्व दिया वैदिक उद्बोधन आज भी हमारे समाज और राष्ट्र की परिस्थिति पर बड़ी सत्यता के साथ लागू होता है। वैदिक ऋषियों को अन्दाज था कि कई प्रकार की भिन्नताओं में अलगाव की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इसीलिये उन्होंने सामाजिक विभिन्नता में भी राष्ट्रीय एकता बनाये रखने पर जोर दिया है। सभी नागरिकों में समभाव, सद्भाव और सौहार्द्र की भावना की प्रेरणा दी है। यदि राष्ट्र के शासन तंत्र में, राज्य सभाओं में, समाज और परिवारों में अटूट स्थाई एकता बनी रहे तो राष्ट्र का व्यक्तित्व इतना शक्तिशाली हो जाए कि कोई भी बाहरी शक्ति उसको नुकसान न पहुंचा सके और हमारा राष्ट्र विश्व के समस्त राष्ट्रों में अग्रणी बन जाए।

यजुर्वेद के बाईसवें अध्याय का बाईसवाँ मंत्र वेद के राष्ट्रीय गीत के नाम से प्रसिद्ध है जोकि राष्ट्रीय विचारों से ओतप्रोत कुछ भारतीय शिक्षण संस्थाओं में प्रातः सामूहिक प्रार्थना के रूप में गाया जाता है। स्वस्थ, सुखी, समृद्ध राष्ट्र के लिये जो भी मूलतः अपेक्षित है उस सबकी अभिलाषा इसमें अभिव्यक्त की गई है। यह राष्ट्रीय गीत इस प्रकार है—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणः ब्रह्मवर्चसी जायताम् । आ राष्ट्रे राजन्यः
शूरः इषव्यः अतिव्याधी महारथः जायताम् । दोग्ध्री धेनुः
वोढा अनड्वान् आशु सप्तिः, पुरंध्रिः योषा, जिष्णुः रथेष्ठा,
सभेयः युवा, अस्य यजमानस्य वीरः पुत्रः जायताम् ।
निकामे निकामे नः पर्जन्यः वर्षतु । फलवत्यः नः ओषधयः
पच्यन्ताम् । योगक्षेमः नः कल्पताम् ।। (यजु० २२।२२)

"प्रभु, हमारे राष्ट्र के ज्ञान विज्ञान में लगे बुद्धिजीवी तप और उत्तम ज्ञान से सदैव सुशोभित रहें। राष्ट्र रक्षक सैनिक प्रभावकारी अस्त्र-शस्त्रों से परिपूर्ण रहें और विजय प्राप्त करें। देश धन-धान्य व सभी उपयोगी वस्तुओं से पूर्ण रहे। गृहधर्मिणी महिलाएँ घरों को सुखी बनाती रहें। सभी सामाजिक प्राणियों में प्रेम बना रहे। वर्षा ठीक समय पर होती रहे। औषधियाँ मिलती रहें तथा सबका सुख कल्याण निरन्तर बढ़ता रहे"। इस प्रकार इस राष्ट्रगीत में देश की सर्वतोमुखी उन्नति की कामना की गई है।

# शुभ एवं अशुभ का नैतिक मूल्यांकन

—विभा
प्रवक्ता, दर्शन शास्त्र,
गढ़वाल विश्वविद्यालय,
श्रीनगर

मनुष्य विवेकशील प्राणी है परन्तु वह जिस सामाजिक वातावरण व परिवेश में जन्म लेता है, धीरे-धीरे बड़ा होता है, उसमें चारों तरफ भौतिक सुख-साधनों का बाहुल्य पाता है। वह इन्हीं वस्तुओं को सत्य समझने लगता है। धीरे-धीरे उसमें इच्छायें उत्पन्न होती हैं और वह इनका दास हो जाता है। मनुष्य की ये इच्छायें बताती हैं कि उसके जीवन में किसी वस्तु का अभाव है। जिस वस्तु की प्राप्ति से इस अभाव को पूर्णता मिलती है, उसको वह वस्तु शुभ लगती है। परन्तु भौतिक सुख-साधनों की पूर्ति करने वाले तत्त्व भौतिक जगत् से सम्बन्ध रखते हैं इसलिए ये तत्त्व शुभ होते हुए भी पूर्ण शुभ की कोटि में नहीं आ सकते हैं क्योंकि यह मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं हैं।

अशुभ, शुभ के एकदम विपरीत है। यह मनुष्य के किसी अभाव की पूर्ति में बाधक सिद्ध होता है। हम शुभ व अशुभ को एक विशेष परिधि में नहीं रख सकते हैं क्योंकि जो वस्तु एक मनुष्य के लिए शुभ है वह दूसरे के लिए अशुभ भी हो सकती है। उदाहरण के लिए किसी वर्ग विशेष या सम्प्रदाय विशेष के द्वारा निहित स्वार्थों के लिए किया गया कोई कार्य उस राष्ट्र के लिए यदि समस्या उत्पन्न करे तब वह राष्ट्र की दृष्टि में अशुभ हो जाता है।

कभी-कभी ऐसा महसूस होता है कि ईश्वर की सब कुछ करने की क्षमता के आगे अशुभ की समस्या एक चुनौती के रूप में हमारे सामने आ जाती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ईश्वर ही हमें अच्छे व बुरे कर्मों को करने की प्रेरणा देता है। यदि यह तथ्य सत्य होता, तब मनुष्यकृत समस्त कर्म इसलिए शुभ हो जाते क्योंकि वह ईश्वर प्रेरित है। लेकिन यह धारणा उचित नहीं है क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहते हुए उसे अनेक प्रकार के कर्म करने

पड़ते हैं। कार्यों को पूर्ण करते समय उसे विभिन्न स्तरों से गुजरना पड़ता है जिसके फलस्वरूप उसे विभिन्न प्रकार के अनुभव होते हैं । ये अनुभव शुभ फलों से परिपूर्ण भी हो सकते हैं व अशुभ फलों से भी। यदि सामाजिक नियमों व रीति-रिवाजों को ध्यान में रखते हुए विवेकसम्मत कर्म किये जायें तब वह कर्म शुभ होंगे क्योंकि ये कर्म व्यक्तिविशेष के लिए कल्याणकारी होंगे और समाज को भी किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचेगी। परन्तु सामाजिक नियमों व रीति-रिवाजों का उल्लङ्घन करके जो कर्म किये जाते हैं वे अशुभ हैं। इन कर्मों के लिए हम ईश्वर को उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते हैं, भले ही ईश्वर उनका लेखा-जोखा रखते हों। इसलिए इन कर्मों के लिए व्यक्तिविशेष ही उत्तरदायी होगा क्योंकि व्यक्ति अपने विवेक के द्वारा शुभ व अशुभ कर्मों का चयन स्वयं करता है।

मानव जीवन के विभिन्न अनुभवों पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि जीवन में अशुभ की प्रबलता है। शुभ का अभाव ही अशुभ है। जीवन की क्रियाशीलता का अभाव होने के कारण मृत्यु को अशुभ माना जाता है। सुख, सत्य, सौन्दर्य, अच्छाई और धन के अभाव में—पीड़ा, असत्य, कुरूपता, पाप और निर्धनता आदि अशुभ है। प्रो० डी०एम० एडवर्ड ने अशुभ को परम मूल्यों का विरोधी माना है।

प्रश्न उठता है कि अशुभ की बहुलता हमें संसार में क्यों दिखायी देती है ? हम ईश्वर को इस बात का दोषी नहीं ठहरा सकते हैं कि उसने संसार को क्यों बनाया व उसमें बुराइयों को भर दिया है। बल्कि हम ये कहते हैं कि अब 'समय' अच्छा कब आयेगा, क्यों मनुष्य का बिबेक स्वार्थों व कुण्ठाओं के वशीभूत हो गया है। 'अर्थ' की विषमता, राजनीति में पनपे हुए भ्रष्टाचार, समाज का नैतिक पतन आदि कुछ तथ्य ऐसे हैं जो हमें ये सोचने के लिए मजबूर कर देते हैं कि आज का मानव कहाँ खो गया है । यही कारण है कि हम दोषों का आरोपण ईश्वर पर न करके वर्तमान काल की आर्थिक व्यवस्थाओं, समाज के विशेष दायरे व परिस्थितियों, राजनैतिक व धार्मिक संस्थाओं और विशेष कर मनुष्य के चरित्र की कमजोरियों व उसकी अक्षमताओं पर करते हैं। सरल स्वभाव के कारण साधारण रूप में हम स्वीकार कर लेते है कि कुछ व्यवस्थायें व परिस्थितियाँ पहले से तो बहुत अच्छी हैं परन्तु उन्हें जैसा होना चाहिये था वे वैसी नहीं हैं बल्कि उससे भी बुरी हैं।

हमारा साधारण अनुभव हमें बताता है कि सांसारिक जगत् में मनुष्य के दुःखों का मूल कारण अशुभ है। उदाहरण के लिए जब अमेरिका

की खोज हुई थी तब गोरी चमड़ी वाले लोगों के लिए मानों स्वर्ग का द्वार खुल गया क्योंकि वह सभी प्रकार के भौतिक सुख-साधनों की दृष्टि से उच्च-कोटि का था। ऐसे वातावरण में उनका जीवन बहुत सुखी होना चाहिये था लेकिन ऐसा नहीं है। वहाँ पर आत्महत्या की संख्या प्रतिवर्ष और देशों से अधिक है। इसका मुख्य कारण यह है कि मनुष्य का सुखी जीवन भौतिक वातावरण पर कम और अपने कर्म, व्यवहार पर अधिक निर्भर करता है क्योंकि जिस वस्तु की आज हमें बहुत अधिक जरूरत है वह है "अपनी अच्छाइयों का मूल्यांकन एवं अपने अन्दर की चेतना को सबसे अधिक क्रिया-शील रखना" जिसके द्वारा हम अपने अन्दर की बुराइयों को समूल नष्ट कर सकें।

मनुष्य के साथ-साथ हमें अशुभ की प्रबलता के कारण जीवन-जन्तुओं का जीवन भी दुःखात्मक दिखाई देता है। प्राकृतिक घटनाओं जैसे—बाढ़, भूकम्प आदि से जीव-जन्तुओं को हानि पहुंचती है। प्रकृति के अतिरिक्त अन्य कर्मों से भी शुभ-अशुभ का निर्माण होता है जैसे चोरी, डकैती, हिंसा, धोखा-धड़ी, लोलुपता, मूर्खता, संदिग्धता, भय, तटस्थता, विश्वासघात इत्यादि। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव अशुभ के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं।

विश्व में अशुभ की व्यापकता की अनुभूति होने के कारण अशुभ की सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता है। ह्यूम के अनुसार अशुभ मानव जीवन में सर्वत्र व्याप्त है। उन्होंने रोगियों से परिपूर्ण अस्पतालों, महामारी से पीड़ित राष्ट्रों और अन्याय तथा अत्याचार को अशुभ के महत्त्वपूर्ण उदाहरण कहा है। महात्मा बुद्ध ने मानव जीवन को हर क्षण दुःखों से परिपूर्ण बतलाया। उनके अनुसार जन्म, मृत्यु, रोग, बुढ़ापा आदि अशुभ हैं।

इसके विपरीत पशु जगत् में अशुभ की समस्या उत्पन्न ही नहीं होती है क्योंकि शुभ-अशुभ का भेद यहाँ पर मिट जाता है। परन्तु मानवबुद्धि का जैसे-जैसे विकास होता गया, हमारे सामने नये-नये अशुभ उपस्थित होते गये। एक समय था जब मनुष्य मनुष्य को मार कर खा जाता था व किसी भी प्रकार के दुःख और पाप की अनुभूति नहीं करता था। कभी विग्रह और युद्ध मानव की आवश्यकता समझी जाती थी। परन्तु जैसे-जैसे मनुष्य को नैतिक मूल्यों का बोध होने लगा वह अशुभ एवं पाप का अर्थ समझने लगा। इस प्रकार अशुभ की सत्ता को हम अतिप्राचीन तो कह सकते हैं परन्तु हम यह नहीं कह सकते हैं कि ये समस्या पुरातनकाल से चलीं आ रही है। प्राणवाद, फिटिशवाद, टोटमवाद आदि के अनुसार 'अशुभ' सब जगह व्याप्त है, परन्तु 'अशुभ की

समस्या' नहीं क्योंकि संसार में दो तरह के जीव निवास करते हैं। नेक स्वभाव वाले जीव शुभ की उत्पत्ति के परिचायक हैं और दुष्ट स्वभाव वाले अशुभ की उत्पत्ति के। अनेकेश्वरवाद और द्वैतवाद में भी ऐसी कोई समस्या नहीं है। द्वैतवादियों का कहना है कि ईश्वर दयालु होने के कारण किसी को किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुंचाता है जबकि शैतान नुकसान पहुंचा सकता है इसलिये उसे ही प्रसन्न करना चाहिये। धार्मिक क्षेत्र में ऐसे अनुयायियों की भी कमी नहीं है जो दुष्ट प्रकृति के देवों को प्रसन्न करने में प्रयत्नशील रहते हैं। सांख्य के अनुसार अशुभ घटनाओं का मूल कारण प्रकृति है जो त्रिगुणात्मक (सत्, रज व तम गुणों से युक्त) है। पुरुष को इन्होंने शुभ माना है जो गुणहीन है व निष्क्रिय है।

अशुभ की समस्या ईश्वरवाद में आकर अपने चरम उत्कर्ष में पहुंच जाती है। इनके अनुसार सर्वगुणसम्पन्न ईश्वर जगत् का नियामक है। साथ ही साथ ये दार्शनिक इस जगत् में दुःख, अपूर्णता, अभाव, दीनता आदि अशुभ ही पाते हैं।

स्पष्ट है कि अशुभ को लेकर विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं की उत्पत्ति हुई। आगस्टाइन ने अपनी रचना 'द सिटी आफ गॉड' में अशुभ को गुणहीनता कहते हुए माना है कि यह एक अभिमान है।

स्पिनोजा अशुभ की सत्ता को मानते हुए कहते हैं कि शुभ और अशुभ का भेद हम ईश्वर की असीमित बुद्धि में नहीं पाते हैं परन्तु इसे मनुष्य जीवन में एक रुकावट की भाँति प्राप्त करते हैं जो आत्मज्ञान की प्राप्ति में बाधक सिद्ध होता है।

लाइब्नीज अशुभ की सत्ता को सृष्टि की पूर्णता के लिए साधन रूप में स्वीकार करते हैं एवं विश्व को उत्तम सम्भव रचना मानते हैं।

रेडोस्लाव सानोफ के अनुसार यह सृष्टि अच्छे व बुरे दोनों का योग है। इन्होंने जीवन के सन्दर्भ में दोनों को सत्य मानते हुए कहा है कि अशुभ है इसीलिये मनुष्य को प्रयत्न करना चाहिये कि जीवन में अधिक से अधिक अच्छाई का प्रवेश हो।

ब्राउनिंग भी आशावादी विचारक थे। वह विश्व में अच्छाई ही अच्छाई देखते थे। उनके अनुसार "हमें मृत्यु को अशुभ मान कर उससे

भयभीत नहीं होना चाहिये। यह तो जीवन का सबसे सुन्दर साहसिक कार्य है। थोड़ी देर के विश्राम के बाद पुनः जीव नवीन व साहसिक यात्रा में निकल जाता है।" इस सन्दर्भ में डॉ० बलबीर सिंह के विचार उल्लेखनीय हैं। उनके अनुसार मनुष्य कतिपय विधियों से किसी भी मृतक की आत्मा से सम्पर्क स्थापित कर सकता है। उन्होंने दावा किया है कि स्वयं उनको ऐसा करने में सफलता मिली है। ऐसा लगता है कि उनके विचार में मृत्यु सुन्दर साहसिक कर्म तो नहीं है लेकिन मात्र परिवर्तन है। अतः मृत्यु को पूर्ण अशुभ अथवा पूर्ण शुभ न कह कर मात्र परिवर्तन ही कहना चाहिये। गीता में भी हमें इस आशय के विचार प्राप्त होते हैं :—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध लेखक एवं कवि वर्ड्सवर्थ भी इसी विचार के पोषक थे—

"There is no death, there is no birth, it is only a change."

परन्तु बर्डयाव का यह विचार है कि अशुभ की समस्या मृत्यु की समस्या है। इस पर विजय प्राप्त करना मृत्यु पर विजय प्राप्त करना है। क्योंकि अशुभ मृत्यु के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह नया जीवन धर्म स्वीकृत कर लेने से ही प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार दो विरोधी धारणाओं के कारण यह प्रश्न उठता है कि क्या सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान ईश्वर ने जानबूझ कर अशुभ से परिपूर्ण जगत् का निर्माण किया ? अगर इसमें सत्यता है तब हम ईश्वर को दयावान् नहीं कहेंगे और हम उसे सर्वशक्तिमान् भी नहीं कहेंगे क्योंकि अशुभ की सत्ता उसके प्रयत्नों के बावजूद भी बनी रही।

अशुभ वह अनुभूति है जिसके कारण संसार में हमें विविध प्रकार के पाप, कष्ट, दुराचार, कपट इत्यादि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यदि हम इसका

निर्माता ईश्वर को मानें तो वह एक निश्चित सीमा में बँध जायेगा और अगर हम यह कहें कि वह विश्व की इन समस्याओं के लिये स्वयं जिम्मेदार नहीं है तब प्रश्न उठता है कि क्या ईश्वर का ईश्वरत्व किसी तत्त्व से प्रभावित होता है? ये दोनों ही स्थितियाँ ईश्वर के लिए उचित नहीं हैं। यही कारण है कि धर्म दर्शन में इस तथ्य पर गहराई से विचार किया गया है।

अशुभ को हम तीन कोटियों में विभक्त कर सकते हैं—दैविक, भौतिक और नैतिक। दैविक अशुभ को हम प्राकृतिक अशुभ भी कह सकते हैं। प्रकृति प्रदत्त अशुभ जैसे—बाढ़, तूफान, सूखा, भूचाल, अतिवृष्टि, महामारी, भूस्खलन इत्यादि हैं। भौतिक अशुभ को शारीरिक एवं मानसिक अशुभ भी कहते हैं। उदाहरण के लिए तनाव, व्याधियाँ, विकृतियाँ, मानसिक वेदना, शोक, मृत्यु, जरा इत्यादि। नैतिक अशुभ के अन्तर्गत हम तानाशाही, युद्ध, हिंसा, आतंक, भ्रष्टाचार, अन्याय, शोषण, पाप, दुष्टता इत्यादि को ले सकते हैं। नैतिक अशुभ की उत्पत्ति का मुख्य कारण ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट आदि अवगुण हैं जिनके वशीभूत होकर मनुष्य कुकर्मों की ओर प्रवृत्त होता है।

इन तीनों वर्गों में हम देखते हैं कि नैतिक अशुभ सबसे अधिक निकृष्ट कोटि का है। नैतिक अशुभ के लिये कर्ता स्वयं जिम्मेदार है क्योंकि विवेक का प्राधान्य होने पर भी मनुष्य उन कर्मों को करता है जो समाज एवं राज्य की दृष्टि में अनैतिक है। कभी-कभी हम इस विश्व में, अपने आस-पास के वातावरण में अनैतिक कार्यों के रहस्यों के खुल जाने पर आश्चर्यचकित-से रह जाते हैं। उदाहरणार्थ पारिवारिक तनाव, सम्बन्ध विच्छेद, अन्याय एवं क्रूरता, लोलुपता, ईर्ष्या, घृणा, दुर्गुण, दुराचार, अपराध, गरीब वर्ग का शोषण, अत्याचार, हत्या, डकैती, जुआ, असंयमित जीवन, मद्यपान, वेश्यावृत्ति, रिश्वत लेना, मिलावट करना, निर्लज्जता, अश्लीलता, ओछापन, नग्नता इत्यादि। जब हम इन सब चीजों को इस भौतिक जगत् में पाते हैं तब फिर क्या ये जगत् हमारी दृष्टि में सुन्दर या सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है?

नैतिक अशुभ को हम बौद्धिक भूल नहीं कह सकते हैं क्योंकि बौद्धिक भूल हमारे चिन्तन के कारण होती है जिसका कारण बौद्धिक न्यूनताएँ या तर्क सम्बन्धी अशुद्धियाँ हैं। नैतिक निर्णय में भी बौद्धिक भूल हो सकती है। हम इसे नैतिक अशुभ नहीं कह सकते हैं। कारण यह है कि नैतिक अशुभ में कर्ता जानबूझकर गलत कार्य करता है। हम केवल उन्हीं कर्मों को नैतिक निर्णय की कोटि में रखते हैं जिस में कर्ता स्वतन्त्रता से अपनी इच्छानुसार कार्य करता है व उसमें कोई मानसिक विकृति नहीं होती है। हम

प्रकृति प्रदत्त या भूत-प्रेत से प्राप्त दुःख या अशुभ को इस कोटि में नहीं रख सकते हैं। इन पर मनुष्य का कोई वश नहीं चलता है। हम पागल व्यक्ति के कार्यों को भी इस कोटि में नहीं रख सकते हैं। उनका अपने शरीर तथा मस्तिष्क पर कोई नियन्त्रण नहीं होता हैं। अपनी एक धुन में वह कार्य करता चला जाता है। बच्चों के कार्यों पर भी अशुभ की समस्या उत्पन्न नहीं होती है। उनके कार्यों पर नैतिक निर्णय दिया ही नहीं जा सकता क्योंकि उनका मस्तिष्क पूर्ण रूप से विकसित नहीं होता है।

नैतिक अशुभ पाप से भी भिन्न है। अनुचित संकल्प ही नैतिक अशुभ है जबकि पाप अनुचित संकल्प का परिणाम हैं। इसे हम स्पष्ट रूप से अपने सामने घटित होते हुए देख सकते हैं।

नैतिक अशुभ और दुर्गुण या अवगुण में भी अन्तर है। नैतिक अशुभ की प्रेरणा दुर्गुण से मिलती है और यह चरित्र का एक दोष है। ऐसा भी होता है कि एक समय का सद्‌गुण दूसरे समय का दुर्गुण बन जाता है। पहले बाहरी सुन्दरता को बहुत अच्छा समझा जाता था परन्तु जैसे-जैसे समय परिवर्तित होता गया, आन्तरिक सौन्दर्य को अधिक महत्ता दी जाने लगी।

नैतिक अशुभ अपराध से भी भिन्न है। राज्य के द्वारा कुछ कार्य निषिद्ध कर दिये जाते हैं और इन कार्यों को करना अपराध है। इन्हें करने पर व्यक्ति को राज्य के द्वारा दण्डित किया जाता है। नैतिक अशुभ के सम्बन्ध में यह आवश्यक नहीं है। परन्तु समाज के द्वारा दोनों की भर्त्सना की जाती है।

अशुभ की समस्या को लेकर दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार से विश्व की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। कुछ दार्शनिक जो संसार के प्रति निराशा-वादी दृष्टिकोण अपनाते हैं, मानते हैं कि इस संसार में आनन्द की अपेक्षा कष्ट व पीड़ा अधिक है। शुभ से अधिक यहाँ पर अशुभ का साम्राज्य है। यह संसार दुःखों का घर है। जन्म लेने के बाद मनुष्य मृत्यु तक दुःखों व कष्टों से घिरा रहता है। निराशा के अतिरिक्त यहाँ पर मनुष्य को कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। जर्मनी के विख्यात दार्शनिक शॉपनहावर के अनुसार मनुष्य अतृप्त आकांक्षाओं की चलती-फिरती लाश है जिसका भार वह जीवन पर्यन्त ढोता रहता है। परन्तु कुछ दार्शनिक ऐसे भी हैं जिनका संसार के प्रति आशावादी दृष्टिकोण है। सर जॉन लुकबॉक ने अपनी पुस्तक 'द प्लेजर्स ऑफ लाइफ' में

आगमनात्मक विधि से यह बतलाया है कि विश्व आशा के चटकीले रंगों से रंजित है। परन्तु विश्व को निरपेक्ष रूप से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि केवल आशावादी या निराशावादी दृष्टिकोण से ही अशुभ विश्व में विद्यमान नहीं है बल्कि अशुभ की सत्ता पहले से ही जगत् में विद्यमान है क्योंकि शुभ व अशुभ को हम पृथक् नहीं कर सकते हैं।

यदि हम इन दृष्टिकोणों को छोड़कर एक क्रमिक वृद्धि, विकास तथा किन-किन मूल्यों की उपलब्धि हुई—इस प्रकार से सोचना आरम्भ कर देते हैं तब स्वतः ही इस समस्या का अन्त होना प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार हम ईश्वर को शासक न मानकर सत्य के लिये कार्यरत शक्ति स्वीकार कर लेते हैं। पहले जब देश का निर्माण नहीं हुआ था, समाज नहीं बना था, परिवार नहीं बने थे, मनुष्य एकदम जंगलों में अकेले रहता था, घास-फूस के वस्त्र पहनता था व नहीं भी पहनता था तब इन बुराइयों का अस्तित्व ही नहीं था जिनकी आज हम प्रत्येक क्षण कटु आलोचनाएं करते हैं। जब मनुष्य में विवेक की उत्पत्ति हुई, तर्क शक्ति की उत्पत्ति हुई तब भी न मनुष्य ने अशुभ को उत्पन्न किया न ही ईश्वर ने। उसने कार्यों को पूर्ण करने के लिए बेहतर साधनों का प्रयोग किया तब वह प्राचीन साधन अशुभ होते गये। दूसरों के कल्याण के लिये एवं सहयोग के लिये कार्यशील होने पर स्वार्थपरता व अहंवाद अशुभ कहलाये जाने लगे। पहले हिंसा को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था, युद्ध एक आवश्यकता समझी जाती थी परन्तु अब अहिंसा व शान्ति के लिये विभिन्न राष्ट्र एकजुट होकर कार्य कर रहे हैं। इस सन्दर्भ में वर्तमान समय का गुटनिरपेक्ष आन्दोलन उल्लेखनीय है। हमें ऐसा महसूस होता है कि शायद प्रकृति इन्हें आगे लाने में प्रयत्नशील है। यह स्वाभाविक है कि और अधिक बेहतर साधन जब उत्पन्न हो जाते हैं तो प्राचीन तरीके अशुभ हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक समय का सद्गुण दूसरे समय का दुर्गुण बन जाता है। इनमें भी यही मूल्यों की परिवर्तनशीलता कार्य करती है।

अतः जिस प्रकार दार्शनिकों ने सत्य, शिव व शुभ को जीवन का परम शुभ मूल्य माना है, उसी प्रकार दुर्गुण, पाप व हिंसा इत्यादि को जीवन का परम अशुभ मूल्य माना है। अगर संसार में अशुभ मूल्यों की सत्ता नहीं होती तो हम उन मूल्यों को शुभ नहीं कह पायेंगे जो समाज के लिये व्यक्ति के लिये कल्याणकारी हैं। घृणा के कारण ही प्रेम की उच्चता का ज्ञान होता है। लोभ के कारण ही संतुष्टि से प्राप्त होने वाले आनन्द का अनुभव मनुष्य करता है। वस्तुतः देखा जाये तो विविध प्रकार की वस्तुओं से परिपूर्ण विश्व अपने आप में न तो

अच्छा है और न बुरा। मनुष्य ही अपने आस-पास के वातावरण तथा वस्तुओं को अच्छा या बुरा बनाते हैं। एक गुण किसी व्यक्ति के लिये सद्‌गुण हो सकता है और वही गुण दूसरे व्यक्ति के लिये अवगुण भी हो सकता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जिस वस्तु से हमारे कार्य की सम्पूर्ति होती है वह शुभ बन जाती है और जो वस्तु कार्यपूर्ति में बाधक होती है वही अशुभ कहलाती है। अर्थात् शुभ या अशुभ किसी भी कर्म के परिणाम पर निर्भर करता है लेकिन मैं कांट और गीता के इस तथ्य से सहमत हूं कि परिणाम अशुभ होने पर भी कर्म शुभ होते हैं यदि इनके संकल्प शुभ हों।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि प्राकृतिक अशुभ, शारीरिक एवं मानसिक अशुभ के लिये मनुष्य जिम्मेदार नहीं है क्योंकि इन पर मनुष्य का कोई वश नहीं चलता है। परन्तु नैतिक अशुभ के लिये मनुष्य स्वयं ही जिम्मेदार है। संकल्प की स्वतन्त्रता के कारण उसे यह अधिकार है कि वह शुभ का चयन कर सकता है व अशुभ का भी चयन कर सकता है। सोच-समझ कर जो कार्य किये जाते हैं उनके लिये कर्ता ही स्वयं जिम्मेदार होता है। इस श्रेणी में हम पागल व्यक्ति व बच्चों के कार्यों को नहीं रख सकते हैं। वह इसलिये कि, जैसा मैं पहले भी कह चुकी हूं कि पागल व्यक्ति अपने वश में कभी नहीं रहता है व बच्चों का मनस् अविकसित होता है। इसलिये हम इनके द्वारा किये गये कार्यों को अनैतिक नहीं कहेंगे।

वास्तव में कोई भी कर्म और वस्तु अशुभ नहीं है। अज्ञान के वशीभूत होकर मनुष्य किसी भी वस्तु को अशुभ मानने लगता है। इसीलिए पाप और अशुभ हमारी निराशा का कारण नहीं बन सकते हैं। पूर्ण आत्मा अज्ञान के वशीभूत होकर अपने आपको दुःखी मानने लगती है। अर्थात् ये संसार दुःखमय है जिसमें रह कर आत्मा दुःख भोग रही है। लेकिन जैसे ही आत्मा को ज्ञान की प्राप्ति होती है वो अखण्ड आनन्द की अनुभूति करने लगती है। अन्तःकरण के द्वारा मनुष्य को यह अनुभूति होती है चाहे वह सुख की हो या दुःख की। आत्मा इस अनुभूति से आच्छादित हो जाती है। जब आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेती है तब वह पाप व पुण्य इत्यादि के चक्र से छूट जाती है।

तात्विक दृष्टिकोण से भी अशुभ की कोई समस्या नहीं है। भारतीय दार्शनिकों की धारणा के अनुसार सारा विश्व ईश्वर का ही रूप है। जीवात्मा ही परमात्मा है। विभिन्न जीवों की आत्मा एक ही ब्रह्म का अंश है। वह ही वास्तविक सत्य है। जगत् की सत्ता व्यावहारिक धरातल पर टिकी हुई है। यही कारण है कि दुःख, पीड़ा, क्लेश, वेदना इत्यादि का भी अस्तितव व्यवहारिक

धरातल पर ही आधारित है। तब तक इन वस्तुओं का अस्तित्व है जब तक ये विश्व है। इसलिए अगर हम ये कहें कि ये एक ऐसी समस्या है जिसको हम सुलझा नहीं सकते हैं तो अनुचित होगा। इस समस्या का हल ज्ञान-विज्ञान के द्वारा एवं आत्मिक प्रयास के द्वारा किया जा सकता है। इसके लिए यह जरूरी है कि हम पहले अपने आपको पहचानें कि हम क्या हैं, हमारा अस्तित्व किस धरातल पर आधारित है। हमारे चरित्र में कौन-कौन सी बुराइयाँ हैं जिनको दूर करके हम लोगों के हित के लिए कार्य करें। हमें ये सम्पूर्ण संसार एक कुटुम्ब की भाँति लगे जिससे हम 'सर्वजन हिताय' व 'सर्वजन सुखाय' की भावना से कार्य करें और ये तब ही हो सकता है जब हम अपने निकृष्ट स्वार्थ के घेरों से अलग हो जाएँ तथा कुण्ठित व विकृत मनोवृत्ति को पनपने न दें बल्कि एक स्वच्छ एवं निष्कपट जीवन व्यतीत करें जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रेम एवं कल्याण भरा हो अर्थात् प्रत्येक कर्म को करते समय यदि मनुष्य का सङ्कल्प शुभ हो तो उसे उस कर्म से उत्पन्न होने वाले फल की आसक्ति नहीं होनी चाहिए। आसक्ति के कारण ही मनुष्य सङ्कीर्ण दायरों में सिमट कर रह जाता है एवं शुभ सङ्कल्प से प्रेरित होकर कर्म करते हुए अशुभ को ही जन्म देता है। गीता[1] का कर्मयोग तथा कांट[2] का नैतिक नियम भी मानव को ऐसे कर्म करने के लिए प्रेरित करता है जिनके सङ्कल्प शुभ हों।

---

१. "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

२. "There is nothing in the world or even out of it which can be called good without qualification except good will."

# विश्व-सभ्यता और भारत की संस्कृति

—डा० उपेन्द्र ठाकुर
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय एवं एशियाई अध्ययन विभाग,
मगध विश्वविद्यालय
बोधगया

## I

विश्व की विशिष्ट संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय सभ्यता प्राचीनतम होने के अतिरिक्त काफी प्रगतिशील भी रही है और आज, जबकि अन्य प्राचीन सभ्यताएँ प्रायः नष्ट हो चुकी हैं, भारतीय सभ्यता और संस्कृति जीवित ही नहीं, उपयोगी भी है। भौतिकवाद के इस युग में लोगों के बढ़ते हुए तनाव तथा अन्तर्द्वन्द्व का एकमात्र समाधान हिन्दू-दर्शन तथा हिन्दू-अध्यात्मवाद प्रदान करता है जो भारतीय संस्कृति की अपनी एक पृथक् विशेषता है। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता बहुत कुछ भारत की भौगोलिक परिस्थितियों के कारण है। प्रकृति से संघर्ष करते हुए तथा उससे उपलब्ध साधनों से लाभान्वित होकर जिस प्रकार प्रत्येक जन-समूह अथवा देश किसी-न-किसी प्रकार प्रभावित होता है, उसी प्रकार भारत की प्राकृतिक तथा भौगोलिक परिस्थितियों ने भी इसकी सभ्यता और संस्कृति को विभिन्न प्रकार से प्रभावित किया है।

इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि मिस्र के भी कोई दिन थे, यूनान (ग्रीस) की भी कभी प्रतिष्ठा थी, कभी रोम का भी सितारा बुलन्द था, अरब की मरुभूमि ने भी कभी हलचल मचाई थी। विशाल पिरामिड, अभ्युन्नत सिंहमूर्तियाँ तथा संचित 'मामियाँ' (Mummies) निस्सन्देह आज भी यह प्रदर्शित कर रही हैं कि मिस्र का भी कभी स्वर्णिम युग था। प्रसिद्ध भूगोलवेत्ता और इतिहासकार टॉलेमी के नेतृत्व में सिकन्दरिया के विद्या-केन्द्र में विश्व के महान सत्यों का अन्वेषण हुआ और उनका संग्रह किया गया जिससे यह

स्पष्ट है कि विश्व की सभ्यता और संस्कृति को मिस्र ने कुछ दिया है।

एक समय था, जब संसार की आँखें यूनान (ग्रीस) पर लगी थीं। बड़े-बड़े ईरानी सम्राट्—साइरस, जरकसीज और डेरियस अपने लाखों अनुयायियों के साथ एथेन्स पर चढ़े चले आ रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था, मानो यूनान में कोई रत्न छिपा हो जिसे पाने के लिए वे प्रयास कर रहे थे, किन्तु जो मिल नहीं रहा था। क्रमशः यूनान का भी विकास हुआ और एशिया, यूरोप और अफ्रीका—तीनों महादेशों में उसने अपना राजनीतिक तथा सांस्कृतिक प्रभाव जमाया। यूनान के गर्भ से ही वह सिकन्दर पैदा हुआ था जो सीज़र और नेपोलियन जैसे महान् विजेताओं के लिए आदर्श बना। बड़े-बड़े साम्राज्यों के मुकुट उसके पैर पर लोटते रहे। यह सही है कि सेल्यूकस और मिनैन्डर भारत में भी पैर जमाने का प्रयास करते रहे, पर यूनान की ओर इन सबसे अधिक ध्यान खींचने वाली वस्तु कुछ और ही थी, और वह थी सुकरात (सोक्रेटीज), प्लेटो और अरस्तू (एरिस्टोट्ल) की त्रिमूर्ति जिसकी उपासना किये बिना तत्कालीन संसार के सत्यार्थियों को सन्तोष ही नहीं होता। जब सारा यूरोप अज्ञान और अन्धकार की गाढ़ निद्रा में खोया था, तब कहीं ज्ञान की ज्योति जगमगा रही थी तो वह यूनान में ही। कहीं सुकरात वार्तालाप द्वारा लोगों के मिथ्या विश्वासों को हटा रहा था तो कहीं प्लेटो अपने काल्पनिक जगत् में ऊँची उड़ानें भर रहा था और कहीं अरस्तू विविध सत्यों का अन्वेषण करने में तल्लीन था। यूनान के इन अमर विचारकों को संसार भुलाये भी नहीं भूल सकता।

## II

रोम के इतिहास में महान् विजेता सीज़र भी आया था जिसने इंगलैंड से पर्थिया तक के भूभागों पर विजय प्राप्त कर कार्थेज को मटियामेट कर, भूमध्य सागर को शब्द के सही अर्थ में 'रोमन झील' बनाकर, रोमन साम्राज्य को अजेय बना दिया था। रोम के पोप के 'बुल' (आकार प्रतिमा) ईश्वरीय विधान माने जाते थे और महान् पोप अपने हाथों से बड़े-बड़े सम्राटों को अभिषिक्त करते रहे। कला, साहित्य, न्याय-व्यवस्था तथा शासन प्रणाली यूरोप ने रोम से ही सीखी। रोम के दिन व्यतीत हो जाने पर उसका धर्म, उसकी भाषा और उसके नियम संसार के विभिन्न देशों को आज भी प्रभावित कर रहे हैं। ईसा के सूली पर लटकने के पश्चात् अपने सर को मशाल बना, अंगुलियों को दीप-शिखा बना, तथा शरीर को लकड़ी की तरह भट्टियों में पका कर, अपने 'गुरु' के नैसर्गिक राज्य तथा विश्व-बंधुत्व के संदेश को संसार की दुर्गम घाटियों में, निर्जन वनों में, असभ्य और बर्बर जातियों में, कुष्टादि व्याधि-पीड़ित जन-समूहों

में तथा समाज के सर्वथा परित्यक्त व्यक्तियों के बीच निःस्वार्थ और अनवरत सेवा के द्वारा सम्पूर्ण जीवन अपने सम्बन्धियों का मुँह देखे बिना यदि किसी ने पहुँचाने का प्रयास किया है तो उसका सेहरा रोमन चर्च के, उससे प्रभावित जैसुइट लोगों के और उनका अनुसरण करने वाले अन्य प्राचीन ईसाई प्रचारकों के मस्तिष्क पर ही बँधेगा। रोम आज भी जीवित है, उसके शरीर में आज भी जीवन्त प्राण हैं, भले ही उसका बाह्य स्वरूप बदल गया हो।

दासों को मुक्ति दिलानेवाली, एकेश्वर की पूजा सिखाने वाली, साम्यवाद का क्रियात्मक पाठ पढ़ानेवाली फ्रांसीसी राज्य-क्रांति से शताब्दियों पूर्व स्वतन्त्रता और भ्रातृभाव का संदेश सुनाने वाले मुहम्मद का जीवन-चरित भी सामने है। सिन्ध से स्पेन तक इस्लाम के विशाल साम्राज्य की स्थापना कोई छिपी बात नहीं है। गणित, ज्योतिष, यूनानी साहित्य, हिकमत (हकीमी चिकित्सा) तथा विज्ञान का पाठ पश्चिमी यूरोप को सर्वप्रथम अरबों ने ही पढ़ाया। कैरो, कार्डिवा तथा अल-अजहर के विश्वविद्यालय आज भी अरब संस्कृति का स्मरण कराते हैं। यूरोप और भारत के बीच सहस्रों वर्ष तक संयोजक-शृंखला के रूप में अरब ही बना रहा और उसने इन दो संस्कृतियों को एक-दूसरे के निकट लाने में अहम भूमिका अदा की।

इनके अतिरिक्त इतिहास हमारा ध्यान चीन में कन्फ्यूसियस और लुत्जे, ईरान में जरथुस्त्र तथा फिलस्तीन (पैलेस्टाइन) में मूसा और ईसा की ओर खींचता है। ये वे महान् हस्तियाँ हैं जिन्होंने विश्व-संस्कृति को एक नई दिशा प्रदान की है, एक नया मोड़ दिया है। फ्रान्स का नाम लेते ही रूसो और वाल्तेयर की प्रतिमाएँ आँखों के सामने नाचने लगती हैं। जर्मनी के नाम से लूथर और मार्क्स का स्मरण हो आता है। रूस की याद आते ही टालस्टाय तथा लेनिन के नाम कानों में गूँजने लगते हैं और जब इंगलैंड की बात आती है तो शेक्सपियर और बेकन तथा अमेरिका पर ध्यान जाते ही इमर्सन और लिंकन की याद आती है।

## III

किन्तु, विश्व-सभ्यता के संदर्भ में भारत की संस्कृति की चर्चा करने के पहले एक बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है। संसार का मानचित्र देखने पर पता चलता है कि अंगरेजों, फ्रांसीसियों और रूसियों के बड़े-बड़े साम्राज्य थे और अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और एशिया के पर्याप्त भू-भाग एवं उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका यूरोपीय लोगों के अधीन हो चुके थे। कहते हैं, अंगरेजों के राज्य में

शताब्दियों तक सूर्यास्त हुआ ही नहीं और गोरी जातियों की ऐसी मान्यता थी, मानो वे काली जातियों पर शासन करने के लिए पैदा हुई हों ! अमेरिका के 'रेड इंडियन', अफ्रीका के 'नीग्रो', न्यूजीलैंड के 'माओरी' तथा एशिया की तथा-कथित पिछड़ी जातियों को 'सभ्य' बनाने के लिए वे जैसे 'देवदूत' के रूप में पृथ्वी पर अवतरित हुए हों ! भारत के प्राचीन इतिहास और संस्कृति के संबंध में अंगरेजों ने जो भ्रांतियाँ फैलाईं, उसके इतिहास को तोड़-मरोड़ कर उसके विकृत रूप को संसार के सामने रखने का कुत्सित प्रयास किया, वह अब सर्व-विदित है। उनके हिसाब से भारत के पास कुछ नहीं था, न तो इतिहास और न संस्कृति ही ! सैनिक संगठन, राष्ट्रीय एकता, प्रशासनिक व्यवस्था, स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र आदि प्रवृत्तियों से जैसे वे बिलकुल अनभिज्ञ थे। आध्यात्मिक चिन्तन, ब्रह्म और आत्मा के अतिरिक्त वे कुछ नहीं जानते थे। संसार सत्य है अथवा असत्य, शब्द नित्य है अथवा अनित्य, आत्मा की मुक्ति होती है अथवा नहीं —इसी चिन्तन में वे निमग्न रहे, बाहर की दुनिया से उन्हें कोई सम्बन्ध नहीं।

लेकिन दूसरी ओर ऐसी कथाएँ भी प्रचलित हैं : "भारत सोने की चिड़िया है" और वह "कभी संसार का सिरमौर रहा था।" कहते हैं रघु ने दिग्विजय की थी, राम ने लंका जीती थी, अर्जुन ने पाताल देश पर विजय प्राप्त की थी। विश्व की प्राचीनतम सभ्यता—सैन्धव सभ्यता यहीं फली-फूली और विकसित हुई थी। विश्वविश्रुत तक्षशिला, नालन्दा और विक्रमशिला के विद्या-केन्द्र यहीं थे, जहाँ संसार के दूर-दूर देशों से विद्योपार्जन हेतु छात्र आया करते थे। फाहियान, ह्वेनसांग और इत्सिंग ने इन्हीं विश्वविद्यालयों में शिक्षा पाई थी। चीन, मध्यएशिया, तिब्बत और जापान के लोग भारत को 'शाक्यमुनि का देश' समझ कर तीर्थ-यात्रा के लिए यहाँ आया करते थे और भारतीयों ने बृहत्तर भारत के निर्माण की उमंगों को भी चरितार्थ कर दिखाया था।

रण-भेरी को फेंक कर धर्म-भेरी बजाने वाला सम्राट् अशोक मिस्र और यूनान तक भारतीय संस्कृति फैला चुका था। उसने अपने प्रिय पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को भगवान् बुद्ध का सत्य-संदेश सुनाने सिंहल द्वीप (श्रीलंका) भेजा था। तुर्किस्तान में भारतीय संस्कृति को ले जाने वाले कुस्तन और यक्ष थे। कुछ धर्म-प्रचारक चम्पा (वियतनाम) और मिस्र तक पहुंचे थे। देवानांप्रिय तिष्य के समय जब श्रीलंका को आध्यात्मिक प्यास बुझाने के लिए कोई स्रोत ढूंढने की आवश्यकता हुई तो उसने अशोक से निवेदन किया। जब मिङ्-ती शासनकाल में चीनी सम्राट् को नये प्रकाश की चाह हुई तो उसने भगवान् बुद्ध की शरण ली। जब तिब्बत को आध्यात्मिक उन्नति की तड़प महसूस हुई तो

उसने शांतिरक्षित, पद्मसंभव और अतीश दीपङ्कर—जैसे भारतीय पण्डितों को ही निमन्त्रित किया। जब अरब को साहित्य, कला, ज्योतिष और विज्ञान की अभिलाषा हुई तो उसने भारतीय पण्डितों और शास्त्रों को स्मरण किया। मृत्यु-सज्जा पर पड़े हुए खलीफा के प्यारे भाई की चिकित्सा करने के लिए सारे अरब में खोजने पर भी जब कोई चिकित्सक नहीं मिला तो, एक भारतीय वैद्य ने ही उसे मृत्यु के मुँह से खींचकर बाहर निकाला। जब मंगोल सम्राट कुबलई खाँ को प्राचीन ग्रंथों के अनुवादकों की आवश्यकता हुई तो उसने भारत पर ही दृष्टि डाली।

यह ऐतिहासिक तथ्य भी अब सामने आ चुका है कि लगभग डेढ़ हजार वर्षों तक दक्षिण-पूर्व एशिया के देश हमारे उपनिवेश थे जहाँ भारतीय संस्कृति का आश्चर्यजनक प्रचार-प्रसार हुआ था। वहाँ के राजा शिव, विष्णु और बुद्ध की उपासना करते थे। कम्बोडिया स्थित बेयोन का शिव मन्दिर, अङ्कोर वाट का विष्णु मन्दिर तथा जावा स्थित बोरोबुदुर का बौद्ध मन्दिर आज भी कला, विशालता और सौन्दर्य के लिए सुदूर भारत की झाँकी प्रस्तुत करते हैं। सुदूर पूर्व के प्रस्तर खंडहरों पर खुदी हुई रामायण, महाभारत, गीता और बुद्ध-चरित की अमर गाथाएँ सहस्रों वर्ष प्राचीन हमारे साहसी धर्म-प्रचारकों का आज भी स्मरण करा रही हैं। इतिहास के प्रत्येक छात्र को यह ज्ञात है कि किस प्रकार हजारों प्रचारकों ने सांसारिक सुखों को छोड़, सेवा का परम व्रत धारण कर, जङ्गलों, हिमाच्छादित पर्वत-शिखरों तथा अति उत्तुंग उर्म्मिमालाओं को पार कर सभ्यता से सर्वथा अपरिचित देशों में भारतीय धर्म और दर्शन, भाषा, साहित्य और कला; अहिंसा, सेवा, सत्य और प्रेम का शुभ संदेश सुनाना ही जीवन का चरम लक्ष्य बनाकर अपने अस्तित्व को मिटा दिया।

उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि मिस्र और भारत के देवी-देवताओं में काफी साम्य था। मिस्र में आज भी यह परम्परा विद्यमान है कि वे लोग पूर्व प्रान्त (पाण्डय देश) से यहाँ आए हैं। चाल्डिया के लोगों में अब भी यह जनश्रुति प्रचलित है कि वे लोग चोल देश (दक्षिण भारत) से आकर यहाँ बसे हैं। श्रीलंका के सिंहलों की आज भी यह मान्यता है कि उनके पूर्वज उत्तर भारत से यहाँ आये थे। कार्थेज के 'प्युनिक' लोग 'निरुक्त' में निर्दिष्ट भारत के 'पणि' (वैदिककाल के व्यापारी वर्ग) ही तो थे। मैक्सिको में 'मय' सभ्यता को विकसित करनेवाले भारत से ही जाकर वहाँ बसे थे। आइसलैण्ड के प्राचीन निवासियों का धर्म-ग्रन्थ 'वलूषा' सम्भवतः

ऋग्वेद ही तो है। ईरान (पर्सिया) के आर्य लोगों ने अपनी भाषा और धर्म भारत की भाषा और धर्म से तो लिये हैं। संसार की प्राचीन जातियों—हिट्टा-इट्स और मिट्टनी लोगों के देवता सूर्य, रुद्र, वरुण और नासत्य वैदिक देवता ही तो हैं। एशिया माइनर में "हिट्टाइट्स" लोगों के समीप ही एक और जाति रहती थी जिसका 'केसित' (केसाइट्स) था। 'कसित' शब्द 'क्षत्र' का अपभ्रंश है। ये लोग भारत के ही रहने वाले थे जो अत्यन्त प्राचीन काल से उपनिवेश-स्थापना के लिये अपने देश से निकल पड़े थे। कसित लोगों की भाषा में आधे से अधिक शब्द वैदिककालीन संस्कृत भाषा के शब्दों से मेल खाते हैं और आधे शब्द भारतीय-यूरोपीय (इंडो-यूरोपियन) परिवार के हैं। उनके देवता भी भारतीय देवताओं से काफी मेल खाते हैं। जैसे—

| कसित | भारतीय |
|---|---|
| सुरिअन् | सूर्यस् |
| मरुतम् | मरुतस् |
| वगस् | भगस् |
| शिमालय | हिमालय |

आदि।

उपरोक्त विवरणों से स्पष्ट है कि भारत भी कभी संसार में अपना विस्तार कर चुका था। जापान से मिस्र तक तथा बाली से यूनान तक बृहत्तर भारत की विशाल अट्टालिका खड़ी हो चुकी थी जिसकी प्रखर सांस्कृतिक ज्योति तत्कालीन विश्व को चकाचौंध कर रही थी और जिसका प्रतिबिम्ब आज भी उन देशों में किसी न किसी रूप में भासित होता है।

# वैदिक संस्कृति संक्षेप में

—डा० सत्यव्रत राजेश
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार

वैदिक संस्कृति वह कल्पवृक्ष है जिसकी मनोरम छाया के नीचे मानव ने अनेक युगों तक सुख तथा शान्ति की मन्दाकिनी में अवगाहन कर मानवोचित सुख-समृद्धि की शीतलता अनुभव की है। वर्ण, आश्रम, राज्य व्यवस्था, समाज-व्यवस्था, पारिवारिक जीवन, परस्पर के बर्ताव तथा व्यवहार आदि का सुन्दर चित्रण हमें वेद से मिलता है। लोक-परलोक, आत्मा-परमात्मा तथा प्रकृति का सम्यग्ज्ञान वेद ही सिखाता है। ज्ञान-विज्ञान की अमूल्य थाती वेद में विद्यमान है। कला-कौशल, यन्त्र यान सभी की शिक्षा वेद में उपलब्ध है। ऐसे महिमामय वेद की संस्कृति का पूर्णरूपेण वर्णन अनेक पुस्तकों का विषय है। पुनरपि उसका कुछ दिग्दर्शन पाठकों को कराया जाता है। वेद अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के पालन का प्रतिपादक है। वह "मा हिंसीः पुरुषं जगत्" कहकर प्राणी तथा प्राकृतिक पदार्थों की रक्षा की तो चर्चा करता ही हैं साथ ही व्यर्थ में औषधियों के मूल उखाड़ने का भी निषेध करता है (ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्)।

सत्य की महिमा के भी वेद ने खूब गीत गाए हैं। उसका सन्देश है कि "सत्येनोत्तभिता भूमिः" यह धरती सत्य के सहारे खड़ी है। उसकी तो यह भी मान्यता है कि—राष्ट्रधारक तत्वों में सत्य का प्रथम स्थान है।[1] सत्य में वह शक्ति है कि वह न सुनने वाले कानों को भी सुनने पर विवश कर देता है। वह 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' अर्थात् किसी के धन की इच्छा न करो, कहकर पूर्ण अस्तेय की शिक्षा देता है।

ब्रह्मचर्य के गीत भी वेद ने भरपूर गाए हैं। अथर्ववेद का एक पूर्ण सूक्त ब्रह्मचर्य की महिमा के गीत गाता नहीं थकता। उसकी मान्यता

---

१. सत्यं बृहदुग्रं पृथिवीं धारयन्ति। अथर्व० १२।१।१

है कि चाहे राज्य कार्य हो या शिक्षण कार्य सर्वत्र ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य के बिना न राष्ट्र चल सकता है और न शिक्षण कार्य। जिसका साढ़े तीन हाथ के शरीर पर नियन्त्रण नहीं वह लम्बे-चौड़े राष्ट्र पर या छात्र वर्ग पर क्या अंकुश रख सकेगा।

अपरिग्रह का भी वेद पोषक है। किन्तु अपरिग्रह धन या वस्तु के संचय के त्याग की अपेक्षा वस्तु पास होने पर भी उसके प्रति आसक्ति या अहंकार के त्याग का नाम है। वेद का आदेश है— 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' त्याग पूर्वक भोग करो। महर्षि दयानन्द ने इसका अर्थ "तच्चित्तरहितेन भोगमनुभव" किया है। इसका अर्थ है कि आसक्तिरहित होकर भोग कर। अतः संसार की वस्तुओं का आसक्तिरहित होकर भोग करना ही अपरिग्रह है।

वेद धन का निषेध नहीं करता अपितु भगवान् से प्रार्थना करने का सन्देश देता है कि—

भूरिदा भूरि देहि नो मादभ्रं भूर्याभर ॥

—ऋग्० ४।३२।२०

भगवान् बहुत देने वाले हैं वह हमें बहुत दें, कम नहीं। किन्तु वह धन श्रेष्ठ हो, गलत ढंग से कमाया हुआ न हो (इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि)। हम उस धन को कमाने के लिये सुपथ से चलें, कुपथ से नहीं (अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्)। साथ ही हम उस धन के स्वामी बनें, धन दास नहीं (वयं स्याम पतयो रयीणाम्)।

वेद दान का महत्त्व भी बहुत बतलाता है। वह व्यक्ति जिसके पास वस्तु हो उस व्यक्ति की सहायता करे जिसके पास अभाव हो। यह कार्य कर्तव्य भावना से किया जाये,न कि किसी पर अहसान की दृष्टि से। वेद में दान सम्बन्धी सूक्त अनेक हैं। एक स्थान पर तो दान का उल्लेख करते हुए कहा है कि तुम वृक्षों की भाँति सैकड़ों हाथों (जड़ों) से कमाओ तथा हजारों हाथों (डालों से बाँट दो।

मातृभूमि के सम्मान का भी वैदिक संस्कृति में महत्त्व है। वेद भूमि को माता तथा अपने को उसका पुत्र कहता है (माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः)। वह आवश्यकता होने पर मातृभूमि के लिये बलिदान देना भी सिखाती है (वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम)।

वैदिक संस्कृति मानव के उत्थान की भी शिक्षिका है। वहाँ कहा है—हे मानव! तेरा उत्थान हो, पतन नहीं (उद्यानं ते पुरुष मावयानम्)। मनुष्य से कहा गया है कि तू इस अवस्था से, और ऊपर उठ (उत्क्रामातः)।

पुरुषार्थ का भी वैदिक संस्कृति में बहुत महत्त्व है—पुरुषार्थ मेरे दाहिने हाथ में है तो विजय बाएँ हाथ में रखी है (कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सत्य आहितः)।

वेद परस्पर बाँटकर खाने का सन्देशवाहक है। वह कहता है—वह अज्ञानी, जो बाँट कर नहीं खाता व्यर्थ ही अन्न को प्राप्त करता है। अन्यों की परवाह न करके अपना पेट भरना उसका जीवन नहीं मृत्यु है। न श्रेष्ठजनों का पोषण करता है और न वह मित्रों का। अकेला खाने वाला केवल पाप खाता है (मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलादो भवति केवलादी)।

वैदिक संस्कृति प्रेमभाव की प्रसारिका है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥

आदि अनेक मन्त्र प्रेमभावना तथा द्वेष रहितता के द्योतक हैं। विश्वमैत्री का वेद का सन्देश इतना व्यापक है कि उसमें समस्त भूत समा जाते हैं। "..................मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वानि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥" इस मन्त्र में सबसे मैत्रीभाव का निर्देश करते हुए कहा कि—हे प्रभो, मुझे इतना दृढ़ बना दो कि सब प्राणी मुझे और उन्हें मैं मैत्री की दृष्टि से देखूँ तथा हम सदैव एक-दूसरे को मित्र-दृष्टि से देखते रहें।

वैदिक संस्कृति समभाव की भी शिक्षिका है। "समौ चिद्धस्तौ न समं विविक्तः" मन्त्र में कहा है कि—दोनों हाथ एक से हैं किन्तु कार्य की दृष्टि से भिन्नता है। एक गाय की दो बच्चियाँ बराबर दूध नहीं देतीं आदि। अतः असमानता में भी समानता का सिद्धान्त अपनाना उचित है। उसके अनुसार

तो जल पीने, भोजन करने का स्थान सबका एक हो। सब एक धुरा में जुते हुए समाज वाहन को आगे बढ़ाओ (समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि)। साथ मिलकर चलो, मिलकर संवाद करो, तुम्हारे मन भी समान ज्ञान से युक्त हों तथा तुम्हारी उपासना पद्धति भी एक हो (सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते)। तुम्हारा मन्त्र (विचार), समिति, सङ्कल्प तथा हृदय समभाव से युक्त हों (समानो मन्त्रः समितिः समानी० समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः)। चारों वर्णों में भी यही प्रेम तथा समभाव हो। प्रभु मुझे चारों वर्णों का प्यारा बनाओ (प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु नस्कृधि। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये)।

वेद जीवन की नश्वरता तथा आत्मा की अमरता का भी संदेशवाहक है। "अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता", तथा—"वायुरनिलममृत-मथेदं भस्मान्तं शरीरम्" आदि मन्त्रों में यही दर्शाया गया है।

वेद जीवन का उद्देश्य भगवत्प्राप्ति बतलाता है—तमेव विदित्वाति मृत्युमेति०, तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः०, यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति०, आदि मन्त्रों में सुख-शान्ति तथा मृत्यु से अभय होने के लिए परमात्मज्ञान आवश्यक बतलाया गया है।

इसी प्रकार के अनेक सुंदर भाव वैदिक संस्कृति में निहित हैं। संक्षेप से कहा जा सकता है कि मानव के सुख-शान्ति तथा उत्थान के लिए वैदिक संस्कृति ही एक मात्र आश्रय है।

# सिन्धु संस्कृति : धर्म और कला

—विनोद चन्द्र सिन्हा

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, प्रा० भा० इतिहास विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

भारतीय इतिहास में सभ्य और समृद्ध जीवन का प्रथम उदाहरण सिन्धु नदी की घाटी में मिलता है। यह नई खोज थी, जिसका श्रेय रायबहादुर दयाराम साहनी और विद्वान् राखालदास बनर्जी को प्राप्त है। बाद में सर जॉन मार्शल की अध्यक्षता में इस क्षेत्र में विधिवत् उत्खनन कराया गया, जिसके फलस्वरूप अनेक महत्त्वपूर्ण परिणाम सामने आये। विद्वान् पनिक्कर[1] के अनुसार यह संस्कृति आर्यों से पहले की है। अधिकांश विद्वान् भी ऐसा ही मानते हैं। किन्तु कुछ विद्वानों की राय है कि यह संस्कृति आर्यों की ही देन है। निर्णायक उत्तर के लिये अभी और अनुसंधान की आवश्यकता है। इस संस्कृति का समय लगभग तीन हजार ईसा पूर्व माना गया है। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि इस नई खोज ने भारतीय संस्कृति को संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों के बराबर खड़ा कर दिया है।

मोहेन जोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में जो मानव अस्थिपंजर मिले हैं, उनके अध्ययन से प्रगट होता है कि सिन्धु-संस्कृति के निर्माण में अनेक जातियों का योग था। इन अस्थिपंजरों में सबसे अधिक संख्या भूमध्य सागरीय नस्ल की थी। भारत के द्रविड़ भी इसी नस्ल की एक शाखा थे। अतः यह परिणाम निकाला जा सकता है कि सिन्धु-संस्कृति के निर्माता मूलतः द्रविड़ ही थे। आगे चलकर इस संस्कृति के विकास में अन्य जातियों का योगदान भी महत्त्वपूर्ण रहा। प्राचीन सभ्य संसार में लेन-देन दोनों प्रचलित रहे हैं। अगर अतीतकाल में भारत ने संसार को कुछ दिया है तो निश्चय ही कुछ लिया भी है। डा० संकालिया[2] ने लिखा है कि सिन्धु-संस्कृति की

---

१. ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री; पृ० ३-४
२. इण्डियन आरकेलाजी टुडे; पृ० ७१

उत्पत्ति के सम्बन्ध में हम निश्चय के साथ कुछ नहीं कह सकते।

## धर्म

लिखित साक्ष्यों के अभाव में इस समय के धर्म के विषय में अधिक नहीं कहा जा सकता। इस दिशा में हमारा ज्ञान उपलब्ध मुहरों, मूर्तियों तथा भग्नावशेषों पर आधारित है। माता देवी की उपासना प्रचलित थी। परम पुरुष के रूप में शिव की पूजा के प्रमाण मिलते हैं। विद्वान् मैके को एक मुद्रा मिली थी, जिसमें एक व्यक्ति योग की मुद्रा में बैठा हुआ है। इसे शिव का चित्र माना गया है। लिङ्ग तथा योनि पूजा के संकेत प्राप्त हुए हैं। मुहरों पर वृक्ष-पूजा और पशु-पूजा के प्रमाण अंकित हैं। जल-पूजा के लिये मोहेन जोदड़ो का विशाल स्नानागार प्रमाण स्वीकार किया जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु निवासी बहुदेववादी होते हुए भी एक ईश्वरीय सत्ता से परिचित थे। वे इस सत्ता को विश्व की सृजनात्मक शक्ति समझते थे। सर जॉन मार्शल ने लिखा है कि सिन्धु निवासियों का धर्म इतनी विशेषता के साथ भारतीय है कि वर्तमान युग के प्रचलित धर्म से कठिनता से उसका भेद किया जा सकता है। सिन्धु प्रदेश में सींग, स्तम्भ तथा स्वस्तिक आदि के चित्र मिले हैं, जो प्रतीक पूजा के उदाहरण हैं। सिन्धु संस्कृति में मन्दिर बनते थे, अथवा नहीं इस पर विवाद है। मार्शल के अनुसार इस काल के मन्दिर लकड़ी के बने होते थे, इसलिये उत्खनन में उनका कोई अवशेष नहीं मिला।

सिन्धु निवासियों का परलोक में विश्वास था। इसलिये शव के साथ खाद्य पदार्थ, मनके, कड़े तथा बर्तन आदि चीजें भी रखी जाती थी। मार्शल महोदय का विचार है कि सिन्धु निवासी मृतक-संस्कार निम्न तीन प्रकार से करते थे—

१– पूर्ण समाधिकरण,
२– आंशिक समाधिकरण,
३– दाह-कर्म।

डा० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है, "इस प्रकार की भस्म तथा जली अस्थियों से भरी हांडियों और कलशों से जान पड़ता है कि इस सभ्यता के प्रौढ़ काल में दाह-क्रिया ही प्रशस्त मानी जाती थी और साधारतया प्रचलित थी।"[3]

---

३. प्राचीन भारत का इतिहास; पृ० १८

सम्भवत: सिन्धु-निवासियों का विश्वास जादू-टोने में भी था। हो सकता है बहुत-सी मुहरें ताबीज के रूप में बनाई गई हों। डा० बुद्ध प्रकाश के शब्दों में, "यह धारणा कि यह संस्कृति वेद विरोधी थी भ्रान्तिमूलक और साक्ष्यहीन है। वस्तुतः इसकी बहुत-सी परिकल्पनाएँ वेद-सम्मत रूप में आज तक हिन्दुओं में वर्तमान है।"[४]

प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता डा० ईश्वरी प्रसाद[५] ने लिखा है कि सिन्धु निवासियों का धार्मिक जीवन शुद्ध, पवित्र तथा स्वच्छ था। प्रतीत होता है कि वे धार्मिक विश्वासानुसार स्नानादि करते थे। उत्खनन में अनेक अलंकृत दीपक प्राप्त हुए हैं। उपासना विधि में वातावरण की शुद्धता के लिये सुगन्धित सामग्री धूप-दीप आदि का प्रयोग किया जाता था।

डा० ईश्वरी प्रसाद[६] ने अनुमान लगाया है कि, "सिन्धु घाटी के निवासियों का धर्म केवल विश्वास तथा आस्था पर निर्भर था। अभी तक जितने प्रमाण उपलब्ध हो पाये हैं उनके आधार पर हम यह प्रमाणित करने में सर्वथा असफल रहे हैं कि सिन्धु निवासियों का कोई धर्म दर्शन था अथवा नहीं।"

## कला

कला के क्षेत्र में सिन्धु निवासियों ने आकाश चूम लिया था। उत्खनन में उपलब्ध मुहरें, मूर्तियाँ, खिलौने, आभूषण तथा बर्तन आदि इसके जीवन्त उदाहरण हैं। ये वस्तुएँ मिट्टी, पत्थर, सीप, घोंघा, हड्डी, हाथी-दाँत तथा धातुओं की सहायता से बनाई जाती थीं। ये लोग धातु गलाना जानते थे। कुम्हारी की कला अत्यन्त विकसित थी। बर्तनों पर चित्रांकन उन्हें प्रिय था। मोहेन जोदड़ो के बर्तनों पर लेख नहीं परन्तु हड़प्पा के बर्तनों पर हैं। सोने, चांदी, मिट्टी, पाषाण, हाथी-दाँत, सीपों तथा घोंघों द्वारा निर्मित गुरिया भी मिली है। इन पर विभिन्न रंगों की पालिश तथा पच्चीकारी की गई है। सिन्धु प्रदेश गुरिया निर्माण के लिये प्रसिद्ध रहा होगा।

कला के क्षेत्र में सबसे सुन्दर छोटी-बड़ी मुहरें हैं। ये चीनीमिट्टी अथवा साबुन-पत्थर की बनती थीं। इन पर की गई चित्रकारी सूक्ष्म है।

---

४. भारतीय धर्म और संस्कृति; पृ० ७
५. प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म तथा दर्शन; पृ० ३५
६. प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म तथा दर्शन; पृ० ३५

इनमें पशुओं का अकन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन मुहरों पर कोई तिथि भी अंकित है किन्तु अब तक इन्हें पढ़ा नहीं जा सका है। जिस दिन इन्हें पढ़ लिया जायेगा, वह बड़ा गौरवशाली दिन होगा। अपने संस्कृति की अनेक अज्ञात बातें प्रकाशित हो जायेंगी। इन मुहरों का वास्तविक उद्देश्य भी जाना नहीं जा सका है।[7] लिपि के सम्बन्ध में विद्वानों का विश्वास है कि यह लेखन शैली चित्रात्मक है। इसका प्रत्येक चिन्ह समूचे शब्द को प्रकट करता है।

सिन्धु प्रदेश की शिरोभूषा बड़ी कलात्मक थी। माता देवी की मूर्तियों पर कुल्हाड़ी के आकार की शिरोभूषा प्राप्त हुई है। सैन्धव-युगीन केश-विन्यास बड़े ढंग से करते थे। पुरुष दाढ़ी-मूँछ रखते थे और स्त्रियाँ बालों का जूड़ा बनाती थीं। उत्खनन में शीशा, कंघा, उस्तरे तथा शृङ्गार की सामग्री प्राप्त हुई है। स्त्री और पुरुष दोनों आभूषण पहनते थे।

सिन्धु-सभ्यता के बच्चों को खिलौना बड़ा प्रिय था। यह बात भारी संख्या में प्राप्त मिट्टी के खिलौनों से प्रमाणित होती है। मिट्टी की छोटी-छोटी गाड़ियाँ बड़ी मनोहरी थीं। पशु आकृतियाँ भी बहुत सुन्दर हैं। शिल्पियों द्वारा बनाये गये खिलौने के अतिरिक्त बच्चे स्वयं भी अपने खिलौने बनाते थे।[8]

सिन्धु घाटी की वास्तु कला भी महान् उपलब्धियों की परिचायक है। इस सभ्यता का नगर-विन्यास आश्चर्यजनक है। व्यवस्थित ढंग से बने विशाल भवन, स्नानागार, भाण्डागार, दुर्ग तथा बाँध आदि तत्कालीन स्थापत्य की श्रेष्ठता के उदाहरण हैं। पुर विन्यास में परिधि तथा वक्रता प्रकार पर विशेष ध्यान दिया गया है। तत्कालीन राजमार्ग, प्रासाद, सभा-भवन तथा अट्टालिकाओं आदि की निर्माण-विधि में तकनीकी गुणों का समावेश स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। सर जॉन मार्शल के अनुसार सिन्धु कला ने प्रभाव ग्रहण करने की अपेक्षा अन्य समकालीन सभ्यताओं की कला को प्रभावित किया था।

---

७. सिविलिजेशन आफ दी इन्डस वैली एन्ड बियान्ड, मार्टियर मलिर; पृ० ४०
८. प्राचीन भारत का इतिहास, विनोद चन्द्र सिन्हा; पृ० २९

# संस्कृति और शिक्षा

—डा० मनुदेव बंधु
एम०ए० (वेद+संस्कृत+हिन्दी),
व्याकरणाचार्य, पी-एच०डी०।
प्राध्यापक वेद विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वैदिक परम्परा के अनुसार मनुष्य के तीन जन्म होते हैं। शतपथ ब्राह्मण में तीन जन्मों का वर्णन निम्नरूपेण मिलता है—

"त्रिर्ह वै पुरुषो जायते। एतन्नु एव मातुश्चाधि पितुश्चाग्रे जायते, अथ यं यज्ञ उपनयति स यद्यजते तद् द्वितीयं जायते, अथ यत्र म्रियते यत्रैनामग्नावभ्यादधाति स यत् ततः सम्भवति तत् तृतीयं जन्म जायते।"[1]

अर्थात् प्रथम जन्म माता-पिता के प्रति माता-पिता के गर्भ से होता है। यह जन्म सर्वसाधारण है, सभी मनुष्यों का होता है। द्वितीय जन्म यज्ञ द्वारा होता है और तृतीय जन्म पुनर्जन्म है, जो मरने और अग्नि को समर्पित होने के बाद मनुष्य को प्राप्त होता है।

द्वितीय जन्म की तुलना में प्रथम जन्म का कितना कम महत्त्व है, यह "शतपथ ब्राह्मण" के अध्ययन से सुस्पष्ट हो जाता है—

"मनुष्यो ह वा अस्यातः पुरा जन्म भवति। इदं ह्याहुः रक्षांसि योषितमनुसचन्ते, तदुत रक्षांस्येव रेत आदधातीति। अथात्राद्धा जायते यो ब्राह्मणो यो यज्ञात् जायते। तस्मादपि राजन्यं वा वैश्यो वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात्, ब्राह्मणो हि जायते यो यज्ञाज्जायते॥"[2]

अर्थात् उपनयन अथवा दीक्षा के पूर्व जो जन्म होता है वह निश्चितरूपेण निकृष्ट जन्म होता है। पूर्वजों का कथन है कि उस जन्म में राक्षसों के वीर्य का भी

सम्मिश्रण रहता है। अतः वास्तविक जन्म वह है जो ब्रह्म (वेद) और यज्ञ द्वारा सम्पन्न होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यज्ञ और ब्रह्म से भी उत्पन्न होते हैं अतः क्षत्रिय और वैश्य को भी ब्राह्मण कह सकते हैं।

प्रथम जन्म प्रकृति में होता है और द्वितीय जन्म संस्कृति में। भाव यह है कि प्रथम जन्म प्राकृतिक होता है और द्वितीय जन्म सांस्कृतिक। संस्कृति ही मनुष्य को अन्य प्राणियों से भिन्न करती है। वैदिक परम्परा के अनुसार मनुष्य का संस्कृति में जन्म उपनयन-संस्कार तथा वेदारम्भ संस्कार से होता है। यह संस्कार संस्कृति, शिक्षा, आचार्यकुल के लिए प्रवेशपत्र है। यह प्रवेशपत्र व्रतहीनों के लिए नहीं है। यह उनके लिए है जो संस्कृति के लिए व्रत लेने को तैयार हों, संस्कृति के प्रति प्रतिश्रुत और प्रतिबद्ध हों, अनृत से सत्य की ओर संक्रमण की निष्ठा रखते हों, जिसका संकेत यजुर्वेद में पाया जाता है—

"अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥"[3]

व्रत कर्म करने को कहते हैं। श्रेष्ठतम कर्मों को व्रत कहा जाता है। व्रत से ही दीक्षा प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा, दक्षिणा से श्रद्धा प्राप्त होती है और सर्वान्ते श्रद्धा से सत्य (अमृत) की प्राप्ति होती है—

"व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥"[4]

स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है—"और जो कुलीन शुभ लक्षणयुक्त शूद्र हो तो उसको मन्त्रसंहिता छोड़ के सब शास्त्र पढ़ावे। शूद्र पढ़े, परन्तु उसका उपनयन न करे, यह मत अनेक आचार्यों का है।"[5]

शूद्रों और स्त्रियों के उपनयनाधिकार और वेदाध्ययनाधिकार को लेकर प्राचीनकाल में परस्पर विरोधी मत प्रचलित थे। किन्तु यह भेद केवल वेदाध्ययन के सम्बन्ध में था, अध्ययन मात्र के सम्बन्ध में नहीं। अन्य प्रकार के अध्ययन में सैद्धान्तिक रूप से प्रायः सबको अधिकार था, यहाँ तक कि ब्रह्मविद्या में भी। आचार्य शंकर जहाँ शूद्र के लिये वेदाध्ययन का बलपूर्वक निषेध करते हैं, वेद मंत्र सुनने मात्र से शूद्र के कान लाख और सीसे से भर देने की गौतम धर्मसूत्र में प्रतिपादित परम्परा का अनुमोदन करते हैं,[6] वे ही विदुर, धर्मव्याध आदि को

आत्मज्ञानी[7] तथा वाचक्नवी, रैक्व आदि को ब्रह्मज्ञानी[8] मानते हैं। जबकि ये सब या तो शूद्र हैं या अज्ञातजन्मा।

एक बात और ध्यातव्य है। सम्पूर्ण भारतीय निगम और आगम, दर्शनों तथा पुराणों में सहशिक्षा की कोई परिकल्पना नहीं है। वस्तुतः केवल पुरुषों के आचार्यकुलों, गुरुकुलों की सूचना प्राप्त होती है। आचार्य से ही दो स्त्रीलिङ्ग शब्द बनते हैं—आचार्यानी और आचार्या। आचार्यानी का अर्थ तो आचार्यपत्नी है[9] किन्तु आचार्या को आचार्य के समकक्ष अवश्य माना जाता है। वस्तुतः व्याकरणज्ञ "आचार्या और आचार्यानी" शब्दों का अर्थ करते हुए लिखते हैं "आचार्यस्य स्त्री आचार्यानी, आचार्या स्वयं व्याख्यात्री"।[10] आचार्य की परिभाषा भगवान् मनु इस प्रकार देते हैं—

"उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥"[11]

अर्थात् वेद का अध्यापक आचार्य कहलाता है। अतः वेद की अध्यापिका आचार्या कहलाती है। यही दशा "उपाध्याय" शब्द की है। उपाध्यायानी =उपाध्याय की पत्नी और उपाध्यायी स्वयं व्याख्यात्री है। उपाध्याय की परिभाषा देते हुए मनु कहते हैं कि जो वेद का केवल एक अंश अथवा वेदाङ्ग पढ़ाये और वह भी वृत्ति (वेतन) लेकर, उसे उपाध्याय कहते हैं—

"एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥[12]

यहाँ प्रसङ्गतः यह बता देना उचित है कि वेतन लेकर विद्यादान को प्राचीनकाल में निन्दनीय माना जाता था। शास्त्र-विक्रयी की निन्दा महाकवि कालिदास बनिया कहकर करते हैं—

"यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।"[13]

छात्र दो प्रकार के होते हैं [१] अन्तेवासी[14] अथवा आचार्य-कुलवासी[15] [२] दण्डमाणव[16]—जैसे आजकल के छात्रावासी और दैनन्दिन विद्यार्थी।

प्राचीन शिक्षा के विषय में एक बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कम से

कम वेदविद्या और धर्मशास्त्र-मोक्षशास्त्र का उद्देश्य केवल बुद्धि का संस्कार नहीं था। निरुक्त में एक प्रसङ्ग आता है कि विद्या ब्राह्मण के पास गई और बोली—मेरी रक्षा करो। तुम यदि मुझे हृष्ट-पुष्ट देखना चाहते हो तो मुझे ईर्ष्या-द्वेष से आक्रान्त, बेईमान और असंयमी के पास मत भेजना। अन्यथा मेरा सर्वनाश हो जायेगा—

"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय माम् शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा दद्या वीर्यवती यथा स्याम्॥"[17]

ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए आचार्य के आदेश पर वर्षों ब्रह्मचर्यवास करना पड़ता था। तपस्या और श्रम करना पड़ता था। जैसा नचिकेता के उपाख्यान से विदित होता है। वेदान्त और शास्त्र पढ़ने के लिए साधनाएँ निर्धारित की जाती थीं। शंकराचार्य ने उनका समावेश साधन चतुष्टय में किया है। षट्क सम्पत्ति (शम, दम, उपरति, तितीक्षा और श्रद्धा), नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थभोगविराग और मुमुक्षुत्व।[18]

उपर्युक्त प्रसङ्गों से विदित होता है कि शिक्षा के अधिकारी चारों वर्णों के आबालवृद्धवनिता हुआ करते थे। समाज में नारी को पुरुषों के समान ब्रह्मचर्य पालन, यजन-याजन तथा वेदाध्ययन का अधिकार था। अतिप्राचीन भारत उदार हृदय वाला था। महाभारत के बाद से विनाश का युग प्रारम्भ हुआ है।

## संदर्भ


१. शतपथ ब्राह्मण–११।२।१।१
२. शतपथ ब्राह्मण–३।२।१।४०
३. यजुर्वेद–२।१८
४. यजुर्वेद–१६।३०
५. स्वामी दयानन्द—सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास
६. शङ्कर, ब्रह्मसूत्र–१।३।३९ तथा गौतम धर्मसूत्र–२।३।४
७. ब्रह्मसूत्र भाष्य–१।३।३९
८. ब्रह्मसूत्र भाष्य–३।४।३६

९. अष्टाध्यायी–४।१।४९
१०. सिद्धान्त कौमुदी, स्त्री प्रत्यय प्रकरण १५, सूत्र–४।१।४९
११. मनुस्मृति–२।१४०
१२. मनु स्मृति–२।१४१
१३. कालिदास, मालविकाग्निमित्र–१।१७
१४. अष्टाध्यायी–४।३।१३०
१५. छान्दोग्योपनिषद्–२।२३।१
१६. अष्टाध्यायी–४।३।१३०
१७. यास्काचार्य, निरुक्त–१।२।४
१८. शङ्कर, ब्रह्मसूत्र–१।१।१ तथा वेदान्त सार–१।१

# गान्धार-कला

—डा० राकेश कुमार शर्मा
प्राध्यापक, प्राचीन भारतीय इतिहास
संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मन के भावों को अधिकतम सौन्दर्य के साथ दृश्य रूप में प्रकट करना ही कला है। कला एक प्रकार से मनोभाव तथा बाह्य रूप को संयुक्त करने वाला माध्यम है। कला मनुष्य की सौन्दर्य कल्पना को साकार करती है। जो कुछ मन में है वह कला में आता है, किन्तु सौन्दर्य गुण के साथ । भर्तृहरि ने कला के ज्ञान से रहित मनुष्य को साक्षात् पशु माना है। यथा—

"कलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः ।"[1]

गान्धार देश में विकसित होने के कारण जिस नवीन शैली की उत्पत्ति हुई उसे गान्धार शैली कहा जाता है। इस कला शैली की उत्पत्ति का स्रोत "एशिया माइनर" तथा "हेलेनिस्टिक" कला थी। दूसरे शब्दों में, इस कला की शैली का सम्बन्ध यूनानी कला से है। गान्धार शैली के अलावा इस शैली को हिन्दू-यूनानी, ग्रीको-रोमन, ग्रीको बुद्धिस्ट या इण्डो-हेलेनिक कला शैली भी कहा जाता है।[2]

गान्धार कला में महात्मा बुद्ध की जीवन घटनाओं की मूर्तियाँ अत्यधिक है। इनकी शैली भारतीय कला के कई केन्द्रों में बने हुए दृश्यों से अधिक सजीव है। इनकी विविधता देखते ही बनती है जो निम्न है—मायादेवी का स्वप्न, फल-कथन, मायादेवी का गर्भधारण, बुद्ध का जन्म, जन्म के बाद बुद्ध की सप्तपदी, प्रथम स्नान, लुम्बिनी से कपिलवस्तु लौटने, सिद्धार्थ के बोधिसत्व आदि रूप से

---

१. डा० रामदत्त भारद्वाज, काव्य शास्त्र की रूपरेखा, पृष्ठ ८
२. डा० ईश्वरी प्रसाद, प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म तथा दर्शन, पृष्ठ २२७

लेकर कुशीनगर में महानिर्वाण, बुद्ध के मृत शरीर की शिविका तथा अन्त के दृश्य, बुद्ध की धातुओं का बँटवारा आदि बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित ६१ दृश्य हैं। इन दृश्यों से विदित होता है कि गान्धार के शिल्पियों ने इस दिशा में सबको पीछे छोड़ दिया था। उन्हें बुद्ध के जीवन की छोटी से छोटी घटना में भी उतनी रुचि थी जितनी किसी विशेष घटना में। वे मानवी गौतम के इहलौकिक स्वरूप में रुचि प्रदर्शित कर रहे थे। साथ ही बुद्ध के लोकोत्तर जीवन की ओर से भी वे उदासीन न थे। यदि इन घटनाओं के साथ बुद्ध की जातक लीलाओं को मिला दिया जाय तो गान्धार कला का अद्भुत सौन्दर्य समक्ष आ जाता है।

बुद्ध की सभी मूर्तियाँ जो कि गान्धार कला के अन्तर्गत निर्मित हैं इन सबकी मुद्राएँ तो बौद्ध है परन्तु मूर्तियों के मुखमण्डल और वसन निस्सन्देह हेलेनिस्टक हैं। ये मूर्तियाँ अत्यन्त सुंदर लगती हैं, परन्तु भारतीय दृष्टिकोण को समक्ष रखने पर इनमें सौन्दर्य का अभाव पाया जाता है। इन मूर्तियों में महात्मा बुद्ध को घुंघराले केशों में प्रदर्शित किया गया है। यह यूनानी अथवा रोमन कला का प्रभाव स्पष्टतः प्रदर्शित करता है। भारतीय कलाकार ऐसा इसलिए नहीं दिखा सकता है कि वह जानता है कि संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् सिर पर केश के कोई मायने ही नहीं होते। इसी प्रकार बोधिसत्व की मूर्तियों पर भी यूनानी कला की छाप स्पष्ट है। बोधिसत्व यूनानी राजाओं की तरह भड़कीले वस्त्र तथा रत्नाभूषणों से मण्डित प्रदर्शित किये गये हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गान्धार कला के अन्तर्गत निर्मित मूर्तियों की मुद्रायें इस देश की होने पर भी उनकी शिल्पविधि काफी सीमा तक यूनानी अथवा रोमन है। इसी सन्दर्भ में वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी लिखा है—

"बुद्ध की जीवन लीला और जातक-कथाओं का अङ्कन मध्यदेश की कला से ग्रहण करने के साथ-साथ गान्धार के शिल्पियों ने ईरानी और यूनानी कला के अनेक प्रभाव और अलंकरण स्वीकार किये, स्वतः गान्धार कला में भारत, ईरान, यूनान एवं रोम की कलाओं के प्रभावों का सम्मिलन हुआ।"[3]

पाश्चात्य कला समीक्षकों के मत में गान्धार कला भारत की सर्वश्रेष्ठ कला अभिव्यक्ति है। परन्तु यह धारणा उचित प्रतीत नहीं होती। पश्चिमी एवं भारतीय कला मान्यताएँ एक दूसरे से पर्याप्त विषमताएँ लिये हैं। वैसे भी एक विदेशी कला के माध्यम द्वारा देश की धार्मिक और आध्यात्मिक भावना को समुचित अभिव्यक्ति नहीं दी जा सकती है। हाँ, ऐसा अवश्य हुआ कि भारतीय

---

३. वासुदेवशरण अग्रवाल, भारतीय कला, पृ० २८७

कलाकारों ने गान्धार कला के माध्यम द्वारा मूर्ति-निर्माण की जो शिक्षा प्राप्त की, उसका उसने दूसरे कला केन्द्र (मथुरा) में मौलिक एवं स्वतन्त्र रूप से विकास किया।

गान्धार कला शैली का प्रमुख महत्त्व यह है कि जहाँ वह भारतीय प्रतिमा विज्ञान पर समकालीन विदेशी कला का प्रभाव प्रदर्शित करती है, वहाँ दूसरी ओर वह भारतीय धर्म के प्रभाव को भी अंकित करती है। गान्धार और मथुरा दोनों शैलियों में उत्तर-पश्चिम भारत के जीवन के प्रत्येक पक्ष का सुस्पष्ट चित्रण मिलता है जैसे—दृश्य, नगर, घट के अन्तराल वीथियाँ, खेत, वृक्ष, पशु आदि सभी वस्तुएँ, फर्नीचर, गाड़ियाँ, अस्त्र-शस्त्र, औजार आदि।

गान्धार कला के अन्तर्गत निर्मित बुद्ध मूर्तियों में भारतीय परम्परा के सारे गुण विद्यमान हैं, परन्तु वह ग्रीक रोम के देवताओं के तरह की दिखाई पड़ती है। भारतीय शैली से उसका मेल नहीं मिलता है। डा० नीहाररंजन रे ने गान्धार कला के सन्दर्भ में लिखा है—"गान्धार कला की मूर्तियों में कलाकार की वास्तविक अभिव्यक्ति का अभाव दृष्टिगोचर होता है। ऐसा जान पड़ता है कि वे किसी सिद्धहस्त कलाकार द्वारा निर्मित न होकर मशीनों द्वारा तैयार की गई हों।" डा० ईश्वरी प्रसाद ने अपना मत निम्न रूप से प्रस्तुत किया है, "भारतीय कला के क्षेत्र में गान्धार शैली को स्थायी स्थान नहीं मिला है। इस शैली की कृतियाँ भरहुत और साँची अथवा गुप्त और पल्लव कलाकृतियों के समक्ष हीन जान पड़ती हैं। गान्धार कला भारतीय संस्कृति का विदेशी चोले में पश्चिमी रूप है। गान्धार का अपना स्वतन्त्र स्थान है। हेलेनिस्टिक दृष्टि-बिन्दु से यह भारतीय और औपनिवेशीय और भारतीय दृष्टि-बिन्दु से यह हेलेनिस्टिक और औपनिवेशीय है।[4]

---

४. डा० ईश्वरी प्रसाद, भारतीय कला, पृष्ठ २२९

# राष्ट्रीय संग्रहालय की दो दुर्लभ मूर्तियों का पुनरवलोकन

**—जगदीश चन्द्र ग्रोवर**

भारतीय मूर्तिकला के इतिहास में देवांगनाओं का अङ्कन बड़े महत्त्व का रहा है। प्रायः ये देवांगनाएँ, देवकन्याएँ, सुरसुन्दरी, नृत्यांगना, अलशा आदि नामों से जानी जाती हैं। शास्त्रीय दृष्टिकोण से ये देवांगनाएँ स्वतन्त्र नहीं होतीं किन्तु देवलोकवासी जरूर होती हैं और देवों की आज्ञा का पालन करती हैं। अतः उनकी अनुकृतियों को देवालयों (देवों के घर अथवा मन्दिर) में प्रतिष्ठित करने का विधान इन शास्त्रों में किया गया है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव और जिन आदि देवों के अनेक खण्डों तथा मण्डपों में, ऐसा विश्वास किया जाता है, ये देवकन्याएँ नृत्य करती हैं। अतः पृथ्वी पर मन्दिरों के शिल्प विन्यास में ये स्थूल देह में नृत्य मुद्राओं में देखने को मिलती हैं।

भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के शिल्प ग्रन्थों में देवांगनाओं की संख्या में भी भिन्नता पाई जाती है। उड़ीसा के शिल्प ग्रंथ शिल्प प्रकाश में १६ प्रकार की देवांगनाओं का वर्णन हैं। पश्चिमी भारत के शिल्प ग्रन्थ क्षीरार्णव तथा दीपार्णव में ३२ नामों का उल्लेख है। कई अन्य ग्रन्थों में २४ तथा ३२ प्रकार की देवांगनाओं का वर्णन है। आश्चर्य की बात है कि द्रविड़ शिल्प ग्रन्थों में इनका वर्णन नहीं मिलता जबकि दक्षिण कर्नाटक, बेलूर तथा सोमनाथपुरम् के होयसल शिल्प मन्दिरों में तथा चालुक्य एवं काकतीय शैली में देवांगनाओं की सुन्दर से सुन्दर मूर्तियाँ मिलती हैं।

रूप लक्षण, भाव बोध, सौंदर्य तथा कल्पना में भिन्नता के कारण ही शिल्प ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न देवांगनाओं को विशिष्ट नाम दिया गया है। वैसे तो इनके चित्रण में स्त्री सौंदर्य के विशिष्ट गुणों पर ही जोर दिया जाता है परन्तु निजी कल्पना और साधना के साथ-साथ प्रतिमा के निश्चित लक्षणों पर प्रतिमा का निर्माण किया गया है।

प्रस्तुत मूर्ति काले पत्थर की बनी है जिसमें स्त्री त्रिभङ्ग स्थिति में खड़ी है। मुख और नासिका सुचारु रूप से बनाये गए हैं। दो धनुषाकार भौंहें अत्यन्त सुन्दर तरीके से उत्कीर्ण हैं। आँखें अधखुली हैं परन्तु स्पष्टतया तिरछी दृष्टि से बाएँ हाथ में पकड़े दर्पण में मुख-दर्शन कर रही है, जबकि दायाँ हाथ सिर पर केश सज्जा में रत दिखाया गया है। अधो-वस्त्र साड़ी के रूप में सुसज्जित है और साड़ी का एक छोर टांगों के बीच लटक रहा है। सिर के बाल घुंघराले लच्छों में हैं। मूर्ति के मुख और अङ्ग-प्रत्यङ्ग की बनावट में नारी-सुलभ कोमलता और शृंगारिक भावना की अभिव्यक्ति हुई है। पूरी की पूरी मूर्ति आभूषणों से अलंकृत है। सुडौल और पूर्ण विकसित स्तन और अङ्गों की सुकुमारता और सुन्दरता को शीलपूर्वक अभिव्यक्त किया गया है। वह मूर्ति चालुक्यकाल की है (चित्र संख्या १)।



चित्र नं० १



चित्र नं० २

स्वर्गीय शिवराममूर्ति ने इस मूर्ति को मोहिनी का नाम दिया है। मोहिनी नाम भारतीय शास्त्रों में दो रूपों के लिए प्रयुक्त हुआ है— प्रथम, एक देवांगना (नर्तकी) के रूप में जिसके लिए शास्त्रकारों ने निम्नलिखित लक्षणों का

विधान किया है "पुरुषालिङ्गनयुक्ता मोहिनी नाम्ना नर्तकी" अर्थात् पुरुष का आलिङ्गन करती हुई मोहिनी। दूसरे रूप में मोहिनी विष्णु द्वारा धारण किए गए उस नारी रूप का नाम है जो समुद्रमंथन के समय अमृत-घट लेकर सागर से उद्भूत हुई थीं। स्पष्टतया इस रूप में मोहिनी के हाथ में एक घड़े का अङ्कन होता है।

प्रस्तुत मूर्ति में मोहिनी के इन दोनों ही रूपों का अभाव है। सम्भवतया शिवराममूर्ति ने यह नाम मूर्ति की सुन्दरता को देखकर किया था। शास्त्रों में इस प्रकार की मूर्ति के लिए एक विशिष्ट नाम निर्धारित है : विधिचिता। शास्त्रानुसार विधिचिता के रूप में देवांगना को हाथ में दर्पण लेकर मुखदर्शन करती या बिंदी लगाती हुई बताया गया है : विधिचिता स्वदर्पण। यह लक्षण हमारी इस मूर्ति में पूरी तरह अवतरित होता है। इसलिए स्पष्टतया यह शिल्प-शास्त्र की "विधिचिता" है न कि प्रायः चर्चित मोहिनी।

दूसरी एक अन्य मूर्ति में, जो काले पत्थर की है, नृत्यांगना को आखेट कार्य विशेष में रत दिखाया गया है। कंगन, पदवलय, नूपुर, गले का हार इत्यादि आभूषणों से सुसज्जित यह मूर्ति होयसल काल की है। अधोवस्त्र आधुनिक स्कर्ट के रूप में वन्य-पत्तों का बना मालूम पड़ता है। मांसल-सौष्ठव बड़ी ही कुशलता से उत्कीर्ण किया गया है। नृत्यांगना का सारा शरीर एक निशानेबाज की तरह झुका है। नृत्यांगना मुख्यतया बाएँ हाथ से निशाना साध रही है तथा बाएँ कंधे पर कमान को दिखाया गया है। दायीं आँख बिल्कुल बन्द है जबकि बायीं आँख तिरछे रूप में लगभग पूर्ण खुली है जिससे नृत्यांगना के कार्य विशेष (संधान) निशानेबाजी का आभास होता है (चित्र संख्या २)।

शिवराममूर्ति ने इस मूर्ति को आखेटिका का नाम दिया है। संभवतया यह नाम भी कार्य विशेष को देखकर कि नृत्यांगना आखेट में क्रियाशील है दिया गया है। शिल्प शास्त्रों में इस कार्य विशेष का विधान कर नृत्यांगना को मरीचिका कहा गया है। शास्त्र अनुसार बायीं ओर दृष्टि रखकर धनुष-बाण तानती देवांगना को मरीचिका कहते हैं "धनुर्बाण संधाता वामदृष्टि मरीचिका"।

प्रस्तुत प्रतिकृति के सभी लक्षण शास्त्रों में किये गये विधान के अनुसार हैं। इसलिए साधारण नाम आखेटिका न देकर इस मूर्ति को एक विशिष्ट नाम मरीचिका से पहचाना जाना चाहिए।

HAWK INDIA

# गुरुकुल-पत्रिक

## वार्षिकोत्सव एवं दीक्षान्त विशेषांक

सम्पादक
डॉ० जयदेव वेदालं

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्व

# सम्पादक-मण्डल




प्रकाशक :

**डा० वीरेन्द्र अरोड़ा**
कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मुद्रण :

ओ३म प्रिन्टर्स, ज्वालापुर फोन : ३००

मूल्य :

**२५.०० रुपये वार्षिक**

ओ३म्

# गुरुकुल-पत्रिका

( गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालय की मासिक शोध पत्रिका )

सम्पादक

**डा० जयदेव वेदालंकार**

न्यायाचार्य, पी-एच०डी०, डी०लिट्०

रीडर-अध्यक्ष, दर्शन-विभाग

प्रकाशक

**गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**

| वैशाख-ज्येष्ठ-२०४४ | वर्ष : ३८ | अङ्क : १-२ |
|---|---|---|
| अप्रैल-मई-१९८७ | | पूर्णाङ्क : ३८५-३८६ |

मूल्य :५) रुपये

# विषय-सूची

# श्रुति - सुधा

—स्वामी वेदमुनि परिव्राजक
अध्यक्ष वैदिक संस्थान, नजीबाबाद (उ० प्र०)

**आ हिष्मा सूनवे पितापिर्यजत्यापये ।**
**सखा सख्ये वरेण्यः । ऋ० १।२६ । ३ ॥**

भगवान के तथा हमारे अनेक प्रकार के सम्बन्ध हैं। प्रस्तुत मंत्र में उन में से केवल तीन सम्बन्धों का वर्णन किया गया है। वर्णन भी सीधे शब्दों में नहीं अपितु प्रकारान्तर से, उदाहरण देकर, उपमा–अलंकार में।

कई महानुभव ऐसे प्रसंगों पर कहा करते हैं कि वेद की भाषा सीधी क्यों नहीं होती ? सीधे शब्दों में वेदों में किसी बात को क्यों नहीं कहा गया होता ? घुमा-फिराकर, प्रकारान्तर से, अलंकारों द्वारा क्यों कहा गया होता है ? समाधान इसका यह हैं कि एक तो वेद कवितामय हैं, चाहे वह पद्य काव्य (छन्दबद्ध) हो या गद्य काव्य। दूसरे थोड़े शब्दों में बहुत प्रकार की बातें कहने के लिये यह आवश्यक है कि अलंकारों का प्रयोग किया जाय। सीधी भाषा में यह सम्भव नहीं कि थोड़े शब्दों में बहुत रहस्य भर दिये जायें। मानव जीवन के लिये उपयोगी समस्त ज्ञान-विज्ञान यदि अलंकारिक रूप से न कहकर सीधे शब्दों में कहा जाता तो जो चारों वेदों के बीस सहस्र मंत्र हैं, वे सम्भवत संख्या की दृष्टि से इतने हो जाते कि उनके पुस्तक एक छकड़े का बोझ बन जाते। तीसरी बात यह है कि अलंकारों से भाषा सुरुचिपूर्ण, आकर्षक बन जाती है। जिस बात को मस्तिष्क सीधे प्रकार से ग्रहण नहीं कर पाता वह उदाहरण के द्वारा उपमा के द्वारा भली-भाँति समझी जा सकती है। सब लोग ऋषि तो नहीं होते तथा यह सम्भव भी नहीं कि सभी ऋषि हो जायें, जो वेद को समाधिस्थ होकर समझ लें।

संसार में अधिकता तो सर्वसाधारण की होती है और सर्वसाधारण के लिये यह आवश्यक हैं कि उन्हें उपमाओं के द्वारा उदाहरण तथा दृष्टान्त देकर बात को हृदयङ्गम कराया जाय। वेद केवल ऋषियों के ही लिये हों, सो बात भी नहीं। वेद का ज्ञान तो प्रभु ने मानव मात्र के लिये दिया है जैसा कि स्वयं वेद के शब्दों में ही वह कृपालु पिता कह रहे हैं "यथेमां वाचं कल्याणी-भावदानि जनेभ्य ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय" अर्थात् मेरी यह कल्याणकारिणी वाणी जन मात्र, मनुष्य मात्र के लिये है–चाहे वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र तथा अति शूद्र कोई भी हो। उपर्युक्त विवेचन इस प्रकार के विचार रखने वाले महानुभावों की संतुष्टि के लिये पर्याप्त हैं।

मंत्रगत उदाहरण पिता-पुत्र, बन्धु–बन्धु तथा मित्र-मित्र के पारस्परिक सम्बन्धों के हैं अर्थात् परमात्मा हमारा पिता है और हम उसके पुत्र, वह हमारा बन्धु है और हम उसके बन्धु तथा वह हमारा मित्र है और हम उसके मित्र। इस प्रकार के भाव पिता-पुत्र, बन्धु-बन्धु तथा मित्र-मित्र की उपमा देकर प्रदर्शित किया गया है। तीनों ही सम्बन्ध इस प्रकार के हैं, जिनमें अत्यन्त निकटता होती हैं और वह भी क्रमश प्रथम से दूसरे तथा दूसरे से तीसरे में उत्तरोत्तर अधिक अर्थात् जितनी निकटता पिता-पुत्र में होती है, उससे अधिक भाई-भाई में होती है तथा मित्र-मित्र में और भी अधिक।

पिता के समक्ष अपनी सब मांगों को प्रस्तुत करने का अधिकार रखते हुए भी कुछ को रहस्य बना कर रखना पसन्द किया जाता है और कई बातें पिता की अपेक्षा भाई से कहने में कम सङ्कोच से काम लिया जाता है किन्तु मित्र से बिल्कुल सङ्कोच नहीं होता। यदि सङ्कोच होवे तो मित्र किस बात के अर्थात मित्रों के मध्य में सङ्कोच और गोपनीयता बरती जाती है तो समझ लीजिये मित्रता है ही नहीं–केवल साधारण सा मेलजोल है।

तीनों सम्बन्धों में इतना मौलिक भेद होते हुए भी तीनों ही अत्यन्त हितकारक सम्बन्ध हैं। जहाँ केवल एक ही सम्बन्ध हो, वहीं हित साधन में कोई कमी नहीं रखी जानी चाहिये— फिर जहाँ एक साथ तीन सम्बन्ध हों तथा वह भी उपर्युक्त तीनों सम्बन्ध— वहाँ कमी उठा रखने का प्रश्न ही क्या ? सभी जानते हैं कि पिता अपनी सन्तानों के लिये कोई कमी नहीं उठा

रखता, उसकी सारी सम्पत्ति कीं स्वामिनी उसकी सन्तान होती है और वह प्रत्येक प्रकारेण स्वसन्तान का पालन करता है। करे नहीं तो फिर पिता नहीं रहता, घोषणा भले हो स्वपितृत्व की करता फिरे। 'पा' रक्षणे धातु से पिता शब्द बनता है अर्थात् पालन और रक्षण करने वाला। जो पालन और रक्षण न कर सके, वह पिता किस प्रकार से हो सकता है ? पिता के रूप में कुछ और भले ही हो।

जैसे पिता सहायक, हर दम रहे हमारा।
त्यों नाथ तुम भी हमको, देते सदा सहारा॥
ज्यों बन्धु काम बन्धु के आता है जगत् में।
त्यों जग के बन्धु तू भी, हित कर रहा हमारा।
ज्यों मित्र, मित्र के दु ख-क्लेशों में हो सहायक।
त्यों मित्र विश्व भर के, देता हमें सहारा॥

★ ● ★

## सम्पादकीय—

# दीक्षा और दीक्षान्त

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने सर्व प्रथम कन्वोकेशन का हिन्दी अनुवाद दीक्षान्त किया था। उसके बाद समस्त विश्वविद्यालयों में जब हिन्दी का प्रचलन प्रारम्भ हुआ तो कन्वोकेशन का हिन्दी अनुवाद दीक्षान्त शब्द का प्रचलन गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के दीक्षान्त की तरह प्रयोग होने लगा। वस्तुत: ये दो शब्द है दीक्षा और दीक्षान्त। यदि किसी भी शिक्षा संस्था में शिक्षा के प्रारम्भ में दीक्षा नहीं दी जाती वहां अध्ययन के अन्त में उपाधि वितरण समारोह को "दीक्षान्त" कहना, दीक्षान्त शब्द के साथ के बलात्कार करना होगा। जब किसी को दीक्षा ही नहीं दी गई तो दीक्षा का अन्त कैसे होगा।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में जिस दिन प्रवेश होता है, उसे वेदारम्भ कहते है। अथात् आचार्य उस अज्ञानी बालक को ज्ञान देने का उपक्रम प्रारम्भ करता है। उसे अपनो दीक्षा में लेता है, उसे दीक्षा देता है- उसे विद्याग्रहण, सद्गुण ग्रहण आदि के व्रतों को धारण कराने के लिये अपने गर्भ अर्थात् कुल में दीक्षित करता है तभो उपनयन के समय आचार्य बालक को सम्बोधित करते हुये कहता है—

मम व्रते ते हृदयं दधामि, ममचित्त मनुत्ति तेऽस्ती।
ममवाचमेकमनाजुषस्व, बृहस्पतिष्ट्वानियुनष्तुमह्यम्:।

वस्तुत: उपनयन शब्द का अर्थ है कि गुरु के कुल में शिष्य को ले जाना, जब शिष्य गुरु के कुल में रहेगा तभी वह अन्तेवासी कहलायेगा।

तभी अज्ञान रूपी शिष्य की रात्रियों को समाप्त कर के ज्ञान की विपुल रश्मियों से शिष्य के मन, इन्द्रियाँ आत्मा अर्थात् शरीरिक, बौद्धिक और

आत्मिकज्ञान से उसे आचार्य आप्लावित करता हैं। तभी यजुर्वेद के अन्दर दीक्षा यज्ञ के समय आचार्य बालक के माता पिता और सगे सम्बन्धियों के समक्ष, आश्वासन देते हुगे कहता है :—

वाचंते शुन्धामि प्राण ते शुन्णामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रंतेशुन्धामि नाभिते मुन्धामि मेढंते शुन्धामि पायुंतेशुन्धामिचरित्रास्ते शुन्धामि ॥ यजु० अ० ६ मन्त्र १४)

अथात् आचार्य बालक को अपने शिक्षणालय में प्रवेश देते समय यह गारन्टी देता है कि इस बालक के वाणी, प्राण, चक्षु, कान, गुप्त इन्द्रियां नाभि और चरित्र आदि सभी का शोधन करके बच्चे को सभो प्रकार से सुनागरिक बनाकर राष्ट्र को स्नातक के रूप में सौंपने की सौंगन्ध रूप में प्रतिज्ञा करता है।

क्या आज प्रारम्भिक पाठशाला से लेकर हाईस्कूल कालेज और विश्व-विद्यालयों के प्रवेश के समय प्रिंसिपल आदि को भी अपने यहां छात्रों को इस प्रकार दीक्षित करता है, उनकी दीक्षा को व्रतों में धारण कराके दीक्षा का पूर्ण करके उसके अन्त अर्थात् सम्पूर्ण करने की बात करता है। यदि ऐसा नहीं करता तो किसो भी विश्वविद्यालय को दोक्षान्त शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिये, अपितु उपाधि वितरण समारोह आदि किसी भी शब्द का प्रयोग करना चाहिए।

हमारे प्राचीन साहित्य में इसलिये ही माता पिता और आचार्य, इन तीनों को शिक्षकों की संज्ञा दी गई है। "मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद ॥" (शतपथ ब्रा० १४,६,१०२)

सर्वप्रथम माता को शिक्षक के रूप स्वीकार किया जाता है। उसके बाद पिता तथा उसके बाद बच्चे को गुरुकुल में भेजने का विधान है।

जब ब्रह्मचारी सम्पूर्ण विद्याओं से स्नात हो जाता था तब उसे स्नातक (ग्रेजुएट) बनाया जाता था उस संस्कार को समावर्तन संस्कार कहा जाता था जिसे दीक्षान्त भी कहा जा सकता है। तब आचार्य उसे यह दीक्षान्त के समय अन्तिम शिक्षा देता था अथवा अन्तिम पाठ पढ़ाता था और उस नवस्नातक

को सावधानपूर्वक सुनने के लिये आदेश देता था कि मैने तुम्हें, भाषण व्याकरण साहित्य, चारों वेद, दर्शन अंग, ज्योतिष, क्षत्रियविद्या, धर्नविद्या, नक्षत्रविद्या आदि विद्याओं से आप्लावित किया है। अत: मेरे इस अन्तिम पाठ को ध्यान पूर्वक सुनो। इस अन्तिम पाठ को प्रत्येक ऋषि ने अपने गुरुओं के मुख से बहुत ध्यानपूर्वक सुना था। तुम भी ध्यानपूर्वक सुनो! कभी तुम स्वाध्याय से प्रमाद मत करना, माता पिता की सेवा करोगे, अतिथियों का सत्कार करोगे, जो विद्या तुमने पढ़ी है, उसका सत्याचरण करोगे देने की प्रवृति पैदा करोगे, देवों के मार्ग का अनुशरण करोगे, दानवों के मार्ग को छोड़ोगे। जो हमारे सुचरित् हैं उनको ग्रहण करोगे, दुश्चरितों का परित्याग करोगे। इस तरह तुम आचरण करोगे तो जाओ संसार में तुम्हारा मार्ग प्रशस्त होगा।

वस्तुत: वैदिक शिक्षा मनुष्य को मनुष्य बनाने पर अधिक जोर देती है। वेद स्पष्ट कहता है कि—

तुममे न कोई ज्येष्ठ है, न कोई कनिष्ठ। तुम सब भाई-भाई हो। सब मिलकर सौभाग्य, निर्मल, ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए बढ़ो। शोभन कर्मा युवा रूद्र तुम्हारा पिता है और सब मनुष्यों के लिए सुखदायिनी, सुन्दर पोषक दुग्धपिलाने वाली प्रकृति तुम सबकी माता है। जीवन यात्रा में सभी पथिक है। हां, विकास में कोई आगे है, कोई पीछे। आयु की दृष्टि से तो सब नित्य अर्थात् समान है। एक जोवन में जो आयु से बड़ा है, वह आगामी जोवन में शिशु बनकर छोटा हो जाता है। अत: सबको एक दूसरे की सहायता करते हुए धर्मपूर्वक अर्थ और कामका अर्जन करते हुए मोक्ष के लिए पुरूषार्थ करना चाहिए।

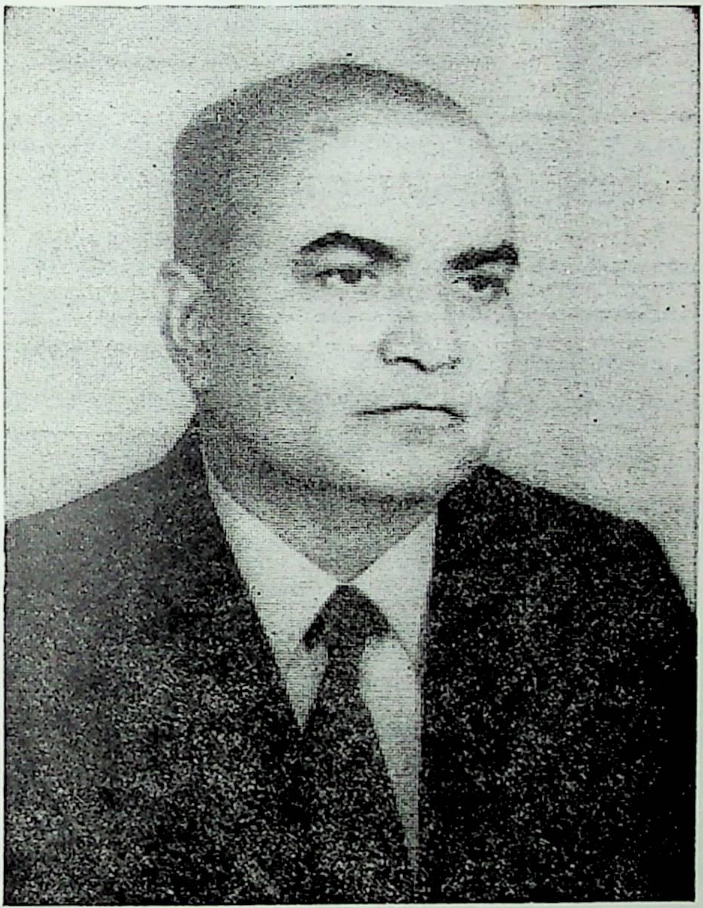
आज भारतवासी संकीर्णता में आकर अपने ही भाईयों के विनाश में लगे हुए है। साम्प्रदायिकता का विषवृक्ष स्थूलकाय बन गया है। ऐसी परिस्थिति में वेदों की प्रासङ्गिकता सिद्ध होतो है।

"मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥" यजु० ३६,१८

मैं सभी प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखता हूं। इस प्रकार हम सब एक दूसरे को मित्र को दृष्टि से देखते रहें।

मानव मात्र के लिए वेद का यह धर्म, यह सन्देश, सृष्टि के आदिकाल से लेकर अब तक चला आ रहा है। जो इसके अनुकूल चला, उसने लाभ उठाया और मानव समाज के सामने आदर्श उपस्थित किया। जो चल रहे हैं, वे भी लाभान्वित हो रहे हैं और जो चलेंगे, वे भी विकास भूमियों के दर्शन करेंगे।

आधुनिक जीवन मूल्यों मे सदाचार का लोप होता जा रहा हैं। चरित्रहीनता सर्वत्र दृग्गोचर हो रही है। वेद सदाचार का जितना महत्व प्रदान करता है, उतना अन्य उपादानों को नहीं। आप चाहे द्वैत को मानिये अथवा अद्वैत को। यदि आप सदाचारी नहीं है तो आपका अद्वैत या द्वैत को मानना निरर्थक है।



**प्रो० आर० सी० शर्मा**
कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
एवं
( रिटायर्ड – आई० ए० एस० )

# स्वागत भाषण

अर्चनीय संन्यासीवृन्द, मान्यवर परिद्रष्टा जी, श्रद्धेय कुलाधिपति जी, आदरणीय मुख्यमंत्री जी, माताओं, सज्जनों तथा ब्रह्मचारियों !

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की इस पुण्यभूमि में आपका स्वागत करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, पण्डित मोतीलाल नेहरु तथा महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय के साथ कँधे से कँधा मिलाकर भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में कूद पड़ने वाले स्वामी जी राष्ट्रीय पुनर्जागरण के प्रणेता थे, भारतीय जीवन मूल्यों पर आधारित राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के पुनरुद्धारक थे, ह्रासोन्मुख हिन्दू-समाज के कायाकल्पक थे और राष्ट्रभक्त युवकों तथा युवतियों के सर्वांगीण विकास के लिए प्राचीन तथा नवीन ज्ञान-विज्ञान के समन्वय के सूत्रधार थे। उनके द्वारा स्थापित गुरुकुल एक आन्दोलन था, ऐसा आन्दोलन जिसकी प्रेरणा से महाकवि रवीन्द्रनाथ ने शान्तिनिकेतन तथा मालवीय जी ने हिन्दू विश्व-विद्यालय की स्थापना की। आज उसी विश्वविद्यालय के परिसर में नवदी-क्षितस्नातकों को आशीर्वाद देने के लिए आप महानुभाव एकत्र हुए हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि नवस्नातक इस पुण्यभूमि को परम्पराओं की सदैव रक्षा करेंगे तथा स्वामी जी के बताए सिद्धान्तों पर चलकर सम्पूर्ण मानवजाति के कल्याण और सुख–शान्ति के सपनों को साकार करते रहेंगे।

**प्रिय बन्धुओं,**

इस वर्ष दीक्षान्त-भाषण के लिए हमारे मध्य प्रदेश उत्तर के मुख्यमन्त्री माननीय श्री वीरबहादुर सिंह जी उपस्थित हैं। प्रदेश की नई शक्ति के रुप में उन्होंने सरकार का दायित्व संभाला। गोरखपुर के एक साधारण ग्राम में जन्म लेकर भी अपने व्यक्तित्व और क्रियाशीलता से वह राष्ट्रीयस्तर के नेता

बने। संघर्ष, निष्ठा, दूरदृष्टि, प्रशासनिकक्षमता और लोकहृदय से सम्पन्न होने के कारण नेतृत्व के सहज गुणों से मण्डित आपका व्यक्तित्व हमारे स्नातकों को सार्वजनिक जीवन में उतर कर सफलता प्राप्त करने में प्रेरणा देगा। क्षेत्रीयस्तर पर तथा राष्ट्रीयस्तर पर प्रशासनिक संरचना का सर्वेक्षण कर उसे वर्तमान सामाजिक-आर्थिक विकास के अनुरूप ढ़ालने में जो सूझबूझ आपने दिखाई तथा समाज के कमजोर और पिछड़े वर्ग के लोगों का जीवन स्तर सुधारने में जिन योजनाओं को आपने तत्परता से क्रियान्वित कराया, उससे प्रदेश को नई शक्ति मिली है। १९७० ई० से आज तक आप सार्वजनिक निर्माण विभाग, राजस्व, सिंचाई, आबकारी, परिवहन तथा उद्योग जैसे महत्वपूर्ण मन्त्रालयों का सफलतापूर्वक संचालन करते रहे और सम्प्रति मुख्यमन्त्री के रूप में अपने दायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह कर रहे हैं। यह हमारे अन्तेवासियों का सौभाग्य है कि देश-विदेश के अनुभवों से सम्पन्न राजनीतिक और सांस्कृतिक सूझबूझ से ओतप्रोत तथा विकास योजनाओं में कार्यरत एक विचारशील मनीषी के द्वारा उन्हें सम्बोधन प्राप्त करने का अवसर मिल रहा है। मै मुख्यमन्त्री जी का हृदय से आभार व्यक्त करता हूं कि वह अत्यन्त व्यस्तता के रहते हुए भी हमारे बीच आए। विश्वविद्यालय में उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा विशाल स्पोर्टस स्टेडियम बनवाने की घोषणा उन्होंने पिछले दिनों हमारे अनुरोध पर सार्वजनिक रूप से हरिद्वार की चुनाव सभा में की थी। इस अवसर पर इस महत्वपूर्ण उपलब्धि के लिए मैं आप सबकी ओर से मुख्यमन्त्री जी को धन्यवाद देता हूँ और आशा करता हूं कि इस घोषणा की पूर्ति यथाशीघ्र होगी। मुझे विश्वास है कि इस राष्ट्रीय महत्व के विश्वविद्यालय को आपका स्नेह-सहयोग बराबर मिलता रहेगा।

विश्वविद्यालय की वार्षिक प्रगति और विकास के अवलोकन का यह उचित अवसर है। गत वर्षों में जहां विश्वविद्यालय को विभिन्न विषयों में आचार्य पद प्राप्त हुए वहां समन्वित गंगा योजना, हिमालय पर्यावरण योजना, प्रौढ़ शिक्षा प्रसार कार्यक्रम तथा रोजगार ब्यूरो की स्थापना भी हुई। कांगड़ी ग्राम विकास योजना तथा राष्ट्रीय सेवा योजना के कारण जहां ग्रामोत्थान के संकल्प को मूर्त्तरूप दिया गया वहाँ व्यवसायोन्मुख शिक्षा के व्यावहारिकपक्ष का ज्ञान भी स्नातकों को हुआ और इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सीमित साधनों के होते हुए भी हमारे विद्यार्थी राष्ट्र की रचनात्मक

धारा से बराबर जुड़ रहे और पोथीज्ञान के अलावा उन्हें समाज और देश की बुनियादी जरूरतों का परिचय भी मिलता रहा है।

योग-मनोविज्ञान द्वारा प्राणीवव्यवहार को उन्नत कर उसमें देवोपम गुणों वा विकास कराया जा सकता है। इस धारणा से प्रभावित होकर अनुदान आयोग की सहायता से भारतीय मनोविज्ञान पर ग्रीष्मकालीन संस्थान का आयोजन प्रोफेसर हरगोपाल सिंह के निदेशन में १५ जून ९ जुलाई ८६ तक किया गया। इसमें भारत के विश्वविद्यालयों से आए प्राध्यापकों ने प्रशिक्षण लिया। इस संस्थान में वैदिकमनोविज्ञान, मनोचिकित्सा, योगमनोविज्ञान, व्यक्तित्व के प्रकार एवं संवर्द्धन, स्वरविज्ञान, मानवव्यवहार, आयुर्वेदीय मानसरोग एवं भारतीय तथा पाश्चात्य मनोविज्ञान को तुलना जैसे विषय पर अधिकारीविद्वानों ने शोध-पत्र प्रस्तुत किए। इस शिविर का उद्घाटन परिद्रष्टा डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार तथा समापन कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान के पूर्व-आचार्य डा० ए० के० सिन्हा ने किया।

हिमालय पर्यावरण योजना के तहत १ अगस्त १९८६ से १२ अगस्त तक वृक्षारोपण शिविर का आयोजन कोटद्वार में किया गया। इस शिविर में इन्दिरा प्रियदर्शिनो इण्टर कालेज मोटाढाक, कोटद्वार जिला पौड़ी-गढ़वाल के १०० छात्रों ने भाग लिया। इस शिविर का उद्घाटन भारत सरकार के मन्त्री माननीय श्री ब्रह्मदत्त जा द्वारा पौध लगाकर किया गया। भारतीय जाति के उद्भव और विकास का साक्षी हिमालय और उसका पर्यावरण यदि सुरक्षित न रहा तो निश्चित ही गंगा-यमुना आदि पवित्र नदियों, वनस्पतियों, खनिज पदार्थों तथा मानव-संसाधनों का मह अक्षय स्रोत नष्ट हो जाएगा। इस बारहदिवसीय शिविर में लगभग २१ हजार पौधों को लगाया गया। शीशम, कन्जु, खैर और पापुलर की ये पोध स्थानीय वन विभाग, सिंचाई विभाग तथा हिमालय पर्यावरण योजना की अपनी नसरी से लेकर लगाई गई। हम इनके संरक्षण के लिए भी बराबर यत्न कर रहे हैं। इसी योजना के अन्तर्गत कण्वाश्रम घाटी के ग्रामीणों की आवश्यकता एवं रुचि के अनुसार फलदार, ईंधन, चारा और इमारती लकड़ी वाले वृक्षों की विभिन्न प्रजातियों को लगभग एक लाख पौध तैयार की गई। आगामी मानसून में राष्ट्रीय सेवा योजना शिविर के विद्यार्थियों द्वारा इन पौधों का रोपण कराया जाएगा तथा मालिनी नदी के तट पर बाढ़ नियन्त्रण तथा

भूमि संरक्षण के लिए कण्वाश्रम कलाल घाटी के क्षेत्र में बन्ध, स्पर तथा सीमेंट ब्लॉक्स का निर्माण किया जाएगा । विश्वविद्यालय के जन्तु विज्ञान विभाग में एक आधुनिक उपकरणों-संयन्त्रों से युक्त प्रयोगशाला स्थापित की जा रही है और इसके लिए आवश्यक यन्त्र खरीद लिए गए हैं ।

जन्तुविज्ञान विभाग के तत्वावधान में १५ दिसम्बर से १८ दिसम्बर तक 'मत्स्य एवं पर्यावरण' पर एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन भी विश्व विद्यालय में हुआ । इस संगोष्ठी में देश भर से आए २२० वैज्ञानिकों के भाग लिया तथा ६२ वैज्ञानिकों ने अपने शोधपत्र प्रस्तुत किए । वैज्ञानिकों ने जल प्रदूशण एवं अन्य कारणों से मत्स्य जाति की रक्षा के उपायों पर विचार किया । इसका उद्घाटन उत्तर प्रदेश के मन्त्री श्री सीताराम निषाद तथा समापन कुलाधिपति डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने किया । योजना के निदेशक डा० बी०डी० जोशी इसके लिए बधाई के पात्र हैं । गंगा समन्वित योजना का कार्य भी विश्वविद्यालय में सुचारु रूप से डा० विजयशंकर के नेतृत्व में चल रहा है । इस वर्ष धार्मिक पर्वों पर रात-दिन जल नमूने एकत्र करके सामूहिक स्नान करने से गंगा जल की गुणता पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन कर लिया गया है । यह रिपोर्ट अलग-से प्रकाशित कराई जा रही है । औद्योगिक एवं घरेलू उत्प्रवाहों पर विभिन्न पौधों की अलग-अलग जातियों को उगाकर यह अध्ययन किया जा रहा है कि किस पौधे को कौन सी जाति प्रदूषण कम करने में अधिक सहायक है ।

कांगड़ी ग्राम विकास योजना के अन्तर्गत कांगड़ी एवं निकटवर्ती ग्रामों को बाढ़ के बचाने के लिए जिलास्तर पर कार्यवाही की गई है । जिलाधिकारी बिजनौर का पूर्ण सहयोग इस कार्य के लिए मिल रहा है । हमारे विद्यार्थियों ने इस वर्ष गांव के ६० घरों के पीछे किचन सोकपिपट बनाए । गांव को मुख्य सड़क से जोड़ने वाली २०० मीटर लम्बी खडन्जे की सड़क को मिट्टी से पाटकर मरम्मत का कार्य किया । तीन पेयजल के कुंओं की सफाई, निकास-नालियों का निर्माण, परिवार नियोजन की शिक्षा तथा ग्राम वासियों को स्वास्थ्य शिक्षा को जानकारी दी गई । डा० विजयशंकर तथा सेवा योजना के समन्वयक श्री ओम्प्रकाश मिश्र के संचालन में इस ग्राम का उत्थान हो रहा है ।

रसायन विभाग १९८५-८६ सत्र से एकवर्षीय स्नातकोत्तर डिप्लोमा

'कामर्शियल मेथड्स ऑव कैमिकल एनेलेसिस' में शुरु किया गया है। इसके अन्तर्गत विद्यार्थियों को जल, मिट्टी, तेल, वसा, साबुन, सीमेंट गारा, लवण, अयस्क, ड्रग्स तथा उर्वरक आदि के विश्लेषण का अभ्यास कराया जाता है तथा आधुनिक इलेक्ट्रोनिक उपकरणों पर कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। रोजगारोन्मुख शिक्षा के क्षेत्र में यह हमारा एक कदम है और हमें यह कहते हुए प्रसन्नता हो रही है कि इस डिप्लोमा में अब तक उत्तीर्ण विद्यार्थी सरकारी यथा गैरसरकारी संस्थानों में नौकरी प्राप्त कर चुके हैं। डा० रामकुमार पालीवाल तथा डा० रजनीशदत्त कौशिक इस कार्य को सफलतापूर्वक कर रहे हैं। रणधीरसिंह अगस्त ८६ में फ्लोरेंस-इटली में शोधपत्र प्रस्तुत करने गए। गणित तथा भौतिकशास्त्र विभाग भी अपना कार्य भली-भांति कर हैं। विज्ञान महाविद्यालय के प्राचार्य श्री सुरेशचन्द्र त्यागी इन सभी कायक्रमों में विशेष रुचि लेते हैं।

प्रौढ़ शिक्षा तथा सतत प्रसार कार्यक्रम के तहत १७ फरवरी से २३ फरवरी तक प्रशिक्षकों का एक प्रशिक्षण-शिविर लगाया गया। प्रधानमंत्री जी के बीससूत्रीय कार्यक्रम, नवोदय पाठशालाओं, नई शिक्षा नीति, सौर ऊर्जा तथा शिक्षण की पद्धतियों और उपायों पर प्रकाश डाला गया। लखनऊ के साक्षरता विभाग से ३०० किट्स उपलब्ध हुई तथा साक्षरता का विशालस्तर पर अभियान शुरु किया गया। डा० अनिल कुमार तथा डा० चोपड़ा इस योजना को सुचारु रूप से चला रहे हैं। इस कायक्रम को देखकर अनुदान आयोग ने दृश्य-श्रव्य साधनों के जुटाने हेतु विशेष अनुदान दिया था।

पिछले दिनों भारत सरकार ने हिमालय-आर्किड्ज की पार्यवर्णिक जीवविज्ञान पर तथा अनुदान आयोग ने पश्चिमी हिमालय के दाल-बीजों तथा लैक्नोन्ज पर बृहत् शोध-योजना भी विश्वविद्यालय के लिए स्वीकृत की है। यह कार्य डा० पुरुषोत्तम कौशिक के निरीक्षण में सम्पन्न होगा।

इस विश्वविद्यालय की बहुमुखी योजनाओं के विकास के लिए सप्तम पंचवर्षीय योजना' में अनुदान आयोग ने पचास लाख रुपये को राशि स्वीकृत की है। कन्या गुरुकुल देहरादून जो इस विश्वविद्यालय का दूसरा कैम्पस है, के लिए पाँच लाख रुपये अलग से दिए हैं। वेद-संग्रहालय जिसमें यज्ञ के प्रकार यज्ञवेदियाँ, यज्ञपात्र यथा समिधा आदि के वैदिक रुपों का संकलन होगा,

साइको आयुर्वेदिक चिकित्सा तथा हिन्दी-पत्रकारिता के डिप्लोमा के लिए विस्तृत योजनाएँ विचारार्थ माँगी हैं। स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज हिन्दी पत्रकारिता के पितामह थे। उनके सद्धर्म प्रचारक ने पराधीन भारत में जन-जागरण का कार्य किया था। उनके शिष्यों ने, इस विश्वविद्यालय के स्नातकों ने इस दिशा में ऐतिहासिक महत्व का कार्य किया है। हमने उस सारी सामग्री के संकलन-सम्पादन की योजना बनाई है ताकि हम सद्धर्मप्रचारक की शताब्दी मनाएँ और इस अवसर पर वह सामग्री प्रकाशित हो। आजादी की लड़ाई का इतिहास तब तक अधूरा है, जब तक इस सारी सामग्री का आकलन नहीं हो जाता। अनुदान आयोग के अधिकारियों, विशेषकर उसके विद्वान् अध्यक्ष प्रो० यशपाल तथा तथा उपाध्यक्ष डा० सच्चिदानन्द मूर्ति का मैं विशेष रूप से आभारी हूं जिन्होंने हमारी योजनाओं पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया।

२२ अगस्त को संस्कृत विभाग ने संस्कृत दिवस का आयोजन किया। निर्धन निकेतन के अध्क्षय श्री ऋषि केशवानन्द जी की अध्यक्षता में नगर की संस्कृत पाठशालाओं के विद्वानों तथा गुरुकुल के आचार्यों और ब्रह्मच रियों ने संस्कृत भाषा और साहित्य के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला। डा० निगम शर्मा तथा श्री वेद प्रकाश शास्त्री इसके संयोजक थे वेद विभाग के विद्वानों ने वैदिक धर्म और साहित्य पर बाहर जाकर अनेक व्याख्यान दिए। प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार की अनेक छोटी-बड़ी पुस्तके प्रकाशित हुई। जनसामान्य को वैदिक सिद्धान्तों से परिचित कराने में इन पुस्तिकाओं की बड़ी उपयोगिता है।

स्वामी श्रद्धानंद जी महाराज के बलिदान-दिवस पर अनेक प्रतियोगिताओं का आयोजन किया गया। बैडमिन्टन टूर्नामेंट में भी ब्रह्मचारियों ने सोत्साह भाग लिया। इस श्रृंखला में नई पीढ़ी के उद्‌बोधन और मार्गदर्शन के लिए स्वामी जी की स्मृति में एक राष्ट्रीयस्तर की व्याख्यानमाला का शुभारंभ किया गया। इसमें भारतीय साहित्य, संस्कृति, पुरातत्व, दर्शन, विज्ञान, समाजसेवा तथा स्वाधीनता आन्दोलन के इतिहास पर विश्रुत विद्वानों के व्याख्यान कराए जाएँगे। ४ मार्च १९८७ को इस 'प्रसार व्याख्यान माला' का उद्‌घाटनभाषण हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार तथा गांधीवादी विचारक श्री विष्णु प्रभाकर ने दिया। 'भारतीय नवजागरण और स्वामी श्रद्धानंद' शीर्षक सुरुचिपूर्ण रुप में छपा उनका व्याख्यान वितरित कराया गया। इस

समारोह की अध्यक्षता कुलाधिपति डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने की। इस भव्य आयोजन की सफलता के लिए मै हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० विष्णुदत्त राकेश को साधुवाद देता हूं।

२० से २९ मार्च तक एन० सी० ई० आर० टी० (राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्) दिल्ली की ओर से यहाँ समूहगान प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया गया। उत्तर प्रदेश के ४३ प्रशिक्षार्थियों ने इसमें भाग लिया। इस शिविर का उद्घाटन पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री वीरेन्द्र ने किया। उत्तर प्रदेश के मंत्री श्री बलदेवसिंह जी आर्य मुख्य अतिथि के रूप में सम्मिलित हुए। देशप्रसिद्ध संगीतशास्त्री श्री विनय मुद्गल, श्री कनुघोष, डा० देशपाण्डे तथा लक्ष्मीकेशव जैसे प्रशिक्षकों से शिविर में जान आ गई। डा० जोशी तथा प्रो० ओमप्रकाश मिश्र ने इसे सफल बनाने में पूर्ण सहयोग दिया।

गुरुकुल का एक प्रमुख दर्शनीय खण्ड गुरुकुल का पुरातत्व संग्रहालय है। इसमें अभिलेखशास्त्र तथा मुद्राशास्त्र की दुर्लभ किन्तु रोचक सामग्री प्रदर्शित है। संग्रहालय के साथ जुड़े हुए श्रद्धानन्द कक्ष की प्रगति भी उल्लेखनीय है। इसमें पूज्य स्वामी जी की पादुकाएँ, वस्त्र, कमण्डल तथा दुर्लभ चित्रपत्रादि सुरक्षित हैं। इस स्मृतिकक्ष में भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के इतिहास की अद्भुत झाँकी मिलती है। १९१९ के जलियाँवाला हत्याकाण्ड के बाद अमृतसर कांग्रेस के अधिवेशन का वह चित्र उल्लेनीय हैं जिसमें स्वामी श्रद्धानन्द जी स्वागताध्यक्ष के रुप में विराजमान हैं तथा श्री मोतीलाल नेहरु श्रीमती एनी बेसेंट एवं महामना मदनमोहन मालवीय उनके साथ बैठे हैं। नवयुवक श्री जवाहरलाल नेहरू और लाला लाजपतराय भी विद्यमान हैं। अब यहाँ अष्टधातु तथा चित्रकक्ष की स्थापना भी हो गई हैं। इस सग्रहालय का उद्घाटन माननीय पण्डित जवाहरलाल नेहरू तथा प्रख्यात पुरातत्ववेत्ता डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने किया था। अक्टूबर, नवम्बर में प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डा० रतनचन्द्र अग्रवाल विजिटिंग फैलो के रूप में यहाँ पधारे। ८ मार्च को संग्रहालय के प्रस्तर प्रतिमाकक्ष का उद्घाटन संस्कृति मंत्रालय भारत सरकार के संयुक्त सचिव श्री रमेशचन्द्र त्रिपाठी ने किया। इस संग्रहालय के निदेशक डा० जबरसिंह सेंगर इसके विकास में कोई कसर नहीं रखेंगे, मुझे इसका पूर्ण विश्वास है। इतिहास विभाग के अध्यक्ष डा० विनोदचन्द्र सिन्हा को नेशनल फैलोशिप मिली।

गुरुकुल पुस्तकालय की गणना उत्तर भारत के गिने-चुने पुस्तकालयों में की जाती है। यहाँ धर्म, दर्शन, इतिहास, मानविकी और विज्ञान की दुर्लभ पुस्तकें तथा पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं। विभिन्न विषयों पर एक लाख से अधिक अधिक पुस्तकें विद्यमान हैं जिनका उपयोग देश-विदेश के विद्वान करते हैं। संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा गुरुकुल पुस्तकालय को भारत की सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रखे जाने के कन्द्र के रूप में मान्यता दी गई है। वर्ष ८६-८७ में दुर्लभ ग्रन्थों तथा पाण्डुलिपियों के संरक्षण हेतु ६६,५०० रुपये का अनुदान मिला। दो हजार नये ग्रन्थ खरीदे गए तथा ज्ञान-विज्ञान की अधुनातन ४०० पत्रिकाएँ नियमित रुप से मंगाई गई। इनमें अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर की ५० पत्रिकायें विदेशों से आ रही हैं। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने वर्तमान पुस्तकालय भवन के विस्तार हेतु ५ लाख रुपये की सहायता दी है तथा ४ लाख रुपये की अतिरिक्त धनराशि नवीन पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं के क्रय के लिए दी है।

एन० सी० सी० का कार्य भी सुचारु रूप से चल रहा है।

संस्कृत विभागाध्यक्ष डा० निगम शर्मा अपने सहयोगियों के साथ संस्कृत सर्टिफिकेट कोर्स तथा अंग्रेजी विभागाध्यक्ष डा० राधेलाल वार्ष्णेय अंग्रेजी सर्टिफिकेट कोर्स सफलतापूर्वक चला रहे हैं। भाषाशिक्षण की आधुनिक तकनीक के आधार पर अंग्रेजी में भाषा–ज्ञान के लिए आवश्यक उपकरण मंगाए गए हैं। संस्कृत, अंग्रजी न जानने वाले तो इस योजना से लाभान्वित होंगे ही अपितु भाषा के शुद्ध लेखन तथा उच्चारण के लिए यह प्रयोगशाला अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। नये सत्र से हम अन्य भारतीय भाषाओं के ज्ञान के लिए भी कुछ कार्यक्रम शुरु करने जा रहे हैं। तमिल कक्षाओं के लिए तो हमने बातचीत भी कर ली है।

योग प्रशिक्षण पाठ्यक्रम के लिए श्री ईश्वरदत्त भारद्वाज भी धन्यवाद के पात्र हैं।

गंगा और गंगा के मैदान के वैज्ञानिक अध्ययन के साथ ऋषिकेश से गढ़मुक्तेश्वर तक के प्रायः २५०० ग्रामों का सामाजिक-आर्थिक एवं पर्यावरण सम्बन्धी सर्वेक्षण एवं अध्ययन किया गया। अभी तक के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि अनेक ग्राम अपरदन, जलप्लावन, बाढ़, सीपेज आदि से पीड़ित हैं।

गजरौला क्षेत्र में उद्योगों के कारण एक बड़े क्षेत्र में प्रदूषण फैला हुआ है। गंगा के जल का BOD, COD एवं बैक्टीरिया-संख्या अनेक स्थानों पर काफी बढ़े हुए पाए गए जो प्रदूषण के सूचक हैं: योजना ने औषधीय एवं अन्य पौधों की एक सूची तेयार की है जिन्हें गंगा के मैदान, किनारे एवं पहाड़ियों पर लगाया जाएगा जिससे भूमिकटाव भी रोका जा सकेगा एवं स्थानीय लोगों के लिये औषधि, ईधंन, डेटरजेंट्स एवं कीटनानाशी आदि उपलब्ध हो सकेंगे। ये कदम जहाँ राष्ट्रीय समृद्धि में सहायक होंगे वहाँ साथ ही पर्यावरण को को अधिक अच्छा भी बनायेंगे।

ग्रामों में शिक्षा की सुविधा एवं स्वास्थ्य सेवायें संतोषजनक नहीं है। अधिकतर ग्रामीणों की आर्थिक अवस्था कमजोर है। प्रधानतया लोग खेती या मजदूरी पर निर्भर करते हैं। उपरोक्त स्थिति में सुधार लाने के लिये गंगा योजना कार्यक्रम बना रही है। कांगड़ी ग्राम विकास योजना के अन्तर्गत कांगड़ी ग्राम को बाढ़ से बचाने के लिये वि० वि० के प्रयास से चैक डैम बनाना प्रारम्भ हो गया है। ग्राम के पास से शराब का ठेका हटाने के लिए बिजनौर जिलाधिकारी ने आश्वासन दिया है। इस सम्बन्ध में उत्तर प्रदेश के राज्य आबकारी मन्त्री महोदय ने भी आदेश दिए हैं।

मुझे यह कहते हुए संतोष का अनुभव हो रहा है कि विश्वविद्यालय के १९८६ तक के आय-व्यय निरीक्षण का कार्य भारत सरकार के आँडिट विभाग द्वारा सम्पन्न हो गया है और प्रशासनिक दृष्टि से यह एक उपलब्धि कही जा सकती है।

**मुख्यमन्त्री जी !**

गुरुकुल का आयुर्वेद कालेज देश के सबसे पुराने कालेजों में एक है। वैद्य धर्मदत्त, डा० धर्मानन्द केसरवानी जैसे अनेक स्नातकों ने आयुर्वेद की शिक्षा में कीर्तिमान स्थापित किए। स्वामी श्रद्धानंद जी महाराज न केवल वेद-वेदांग के पक्षपाती थे, अपितु वह आधुनिक विज्ञान और भारतीय चिकित्सा शास्त्र में नवीन अनुसन्धानों की प्रेरणा दे रहे थे। कुछ कारणों से यह कालेज उत्तर प्रदेश सरकार ने अपने अधीन कर लिया था। अब हम चाहते हैं कि इसका पूर्ण व्यय उत्तर प्रदेश सरकार वहन करते हुए गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय को इसे सौंप दे। यदि ऐसा हो जाये तो हम यहाँ आयुर्वेद की उच्चतम

अध्ययनपीठ स्थापित कर, स्नातकोत्तर अध्ययन और अनुसन्धान का कार्य प्रारम्भ करेंगे। इससे गुरुकुल की पहचान बनेगी तथा आयुर्वेद की आधुनिक आवश्यकता की पूर्ति हो सकेगी। आशा है, आप हमारी यह प्रार्थना स्वीकार करेंगे।

आर्य बंधुओं,

गुरुकुल प्रणाली वर्तमान परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीय अखण्डता, समाजसेवा, मानवजाति की एकता, विश्वव्यापी प्रेम, चरित्र निर्माण, आत्मनुशासन, सामाजिक तथा लोकतांत्रिक न्याय, सामूहिक कार्यचेतना, ज्ञान की खोज एवं प्रसार जैसे उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो सकती है। इस दिशा में अपने सीमित साधनों के बावजूद हम आगे बढ़ रहे हैं। हमारे ब्रह्मचारी व्रताभ्यास, योगाभ्यास तथा आत्मानुशासन से बल ग्रहण कर राष्ट्रीय जीवन में उतरें, मेरी यही सदिच्छा है। इकबाल के शब्दों में कहना चाहूं तो कहूँगा—दृढ़ विश्वास, निरन्तर कर्मण्यता तथा विश्वव्यापी प्रेम ही जीवन के महायुद्ध में पुरुषार्थी मनुष्यों की तलवारें हैं।

यकीं मुहकम अमल पैहम मुहब्बत फ़ातेहे आलम,<br>जहादे जिंदगानी में हैं यही मर्दों की शमशीरे।

गुरुकुल की उक्त उपलब्धियों के लिए मै विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, शिक्षा मंत्रालय भारत सरकार, उत्तर प्रदेश सरकार, आकाशवाणी नजीबाबाद विश्वविद्यालय की शिष्ट परिषद् कार्य परिषद् तथा शिक्षा पटल के मान्य सदस्यों के प्रति आभार प्रकट करता हूं। इन्होंने समय-समय पर अमूल्य सहयोग देकर हमारा मार्गदर्शन किया। इसके साथ ही मै स्थानीय प्रशासनिक अधिकारियों को भी धन्यवाद देता हूं जिन्होंने यहां व्यवस्था बनाए रखने में हमारी सहायता की।

इस अवसर पर अपने आचार्यों, ब्रह्मचारियों तथा कर्मचारियों को भी धन्यवाद देना चाहूंगा जिनको मेहनत और लगन से ये सब उपलब्धियाँ हो सकीं। श्री कुलसचिव, उप-कुलसचिव तथा वित्ताधिकारी एवं उनके विभागीय सहयोगियों का भी मैं आभारी हूं।

इस वर्ष पी-एच० डी० की ७, एम० ए० की ५४ एम०एस-सी० की ६ बी० एस-सी० की ३४ तथा अलंकार की १९ उपधियाँ प्रदान की गई हैं।

**आइए एक बार कहें**—जिस प्रकार आकाश एवं पृथ्वी निर्भय होकर निर्दोष कर्म करते हैं उसी प्रकार हम भी भयरहित होकर सत्कर्म करते रहें।

यथा द्यौश्च पृथिवो च न विभीतो न रिष्यत :
एवा मे प्राण मा विभे: ।

**रामचन्द्र शर्मा**
कुलपति

१४ अप्रैल, १९८७

# आर्य समाज के सजग कानून प्रहरी
# श्री सोमनाथ मरवाह

**द्वारा : सूर्यकान्त श्रीवास्तव, सग्रहालयाध्यक्ष**

अविभाजित भारत के पश्चिमी पंजाब क्षेत्र में प्रवाहित नदी जेहलम (झेलम) के आंचल में अवस्थित नगर जेहलम में आर्य समाज के लब्ध प्रतिष्ठित प्रबल समर्थक लाला रामनिवास मरवाह की धर्मपत्नी सौभाग्यवती जसवन्ती ने १५ दिसम्बर १९१० को एक बालक को जन्म दिया। धर्मनिष्ठ कर्तव्य परायण माता पिता ने नाम दिया "सोमनाथ"। बालक सोमनाथ की शिक्षा माँ-बाप के देखरेख में घर से ही प्रारम्ख हुयी। फलत: भारतीय वेद साहित्य, हवन एवं सध्यां आदि में आपकी रूचि एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में विकसित हुयी।

स्कूली शिक्षा का प्रारम्भ "शासकीय हाई स्कूल" जेहलम से प्रारम्भ हुयी। लेकिन कुछ वर्षों के पश्चात ही तत्कालीन सामायिक मांग को दृष्टिगत रखते हुये शासकोय स्कूल छोड़कर 'दयानन्द आर्य विद्यालय' लाहौर में प्रवेश लिया। सन् १९२७ में पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर की मैंट्रिक्यूलेशन परीक्षा प्रथम श्रेणी में उतीर्ण की। तत्पश्चात् दयानन्द कालेज के छात्र के रूप में बँचलर आफ आर्टस की उपाधि सन् १९३१ में प्राप्त को। सन् १९३३ में लां कालेज के छात्र होकर पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर से एल० एल० बी० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उतीर्ण कर सम्पूर्ण पंजाब में वरीयता क्रम से तृतीय स्थान प्राप्त किया। १९३३ के उत्तराध से हो आपने वकालत करना आरम्भ कर दिया था।

सन् १९३९ से भारत विभाजन तक आप जिला (District Board) के कानूनी सलाहकर पद पर कार्यरत रहे। भारत विभाजन के पश्चात सितम्बर १९४७ में आपको जन्म भूमि छोडने पर बाध्य होना पड़ा। जेहलम



सीनियर एडवोकेट श्री सोमनाथ मरवाह
विजिटर, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

से आप अमृतसर जिले में कस्वा स्पाटू (वर्तमान में हिमालय प्रदेश में) आकर रूके। कुछ समय के पश्चात् आप दिल्ली आ गये। आपने भारत सरकार के सहायक निदेशक, विधि के पद पर भी कार्य किया। वर्ष १९५० में पुनः वकालत आरम्भ कर दी। वर्तमान में आप उच्चतम न्यायलय के वरिष्ठतम वकीलों में अपना गौरवपूर्ण स्थान बनाये हुये है।

आर्य समाजी परिवार के आंगन में प्रारम्भ हवन एवं सध्या जीवन को एक आवश्यकता के रूप में समाहित होते गये, जिनका प्रभाव आपके व्यक्तित्व पर स्पष्टतया दृष्टि गोचर है। समाज के प्रति आस्था एवं मानवीय सेवा का मूल्य आपने बाल्यावस्था से ही जान लिया था। अतएव १० वर्ष की किशोर आयु से ही आप आर्य समाज की कुमार सभा के सक्रिय सदस्य बन गये थे। कुमार-सभा के विभिन्न पदों पर रहते हुये सभा द्वारा आयोजित वार्षिक एवं अन्य आयोजन पर समाज एवं मानवीय समस्याओं पर गम्भीर विचार व्यक्त करते रहे। बाल्यावस्था के इस अभ्यास ने आपको एक सफल वक्ता बना दिया है।

समाज की तत्कालीन मांग को दृष्टिगत रखते हुये आपने शासकीय विद्यालय छोड़कर लाहौर में डी० ए० वी० स्कूल/कालेज में प्रवेश लेकर शिक्षा पूर्ण की। लाहौर में रहने की व्यवस्था स्कूल/कालेज के छाक्षावास में होने के कारण आर्य समाज के मूलभूत सिद्धान्तों के विस्मरण का प्रश्न ही नहीं उठा। वरन् आर्य समाज की आवश्यकता एवं काय प्रणाली में आस्था उतरोत्तर वढ़ती ही गयी। प्रत्येक रविवार को छात्रावास के सभी विद्यार्थियों को लौहार में अनारकली आर्य समाज में एकत्रित होना अति आवश्यक था। रविवार की बैठक में आर्यसमाज के अनेकों मनीषी, सन्त एवं कार्यकर्ता उपदेश एवं प्रवचन के लिये आमन्त्रित होते थे। विभिन्न मनीषियों एव सन्तों के प्रवचनों ने आपके विचारों को परिवक्ता प्रदान को साथ हीं उनकी सेवा का अवसर भी प्राप्त हुआ। महात्मा हंसराज़ जी के उपदेशों ने आपको अत्याधिक प्रभावित किया। महात्मा हसराज की सेवा का अवसर आप अपने जीवन की विशेष उपलब्धि मानते हैं। पढ़ाई सेवा, टहल के साथ साथ आपने अंग्रेजी भाषा में महात्मा हंसराज एवं स्वामी श्रद्धानन्द जी का जीवन चरित्र लिखा जो प्रकाशित भी हुआ।

शिक्षा पूर्ण करके वकालत आरम्भ की लेकिन समाज के कार्यों के लिये सदैव अग्रणी पंक्ति मे रहे। समाज की युवा शाखा "आर्यवीर दल" जेहलम के सदस्य १९३३ में बने। इसी वर्ष में सक्रिय योगदान के कारण आपको दल का पदाधिकारो भी चुना गया। वर्ष १९३४-३५ में आपको आर्य-समाज, जुबलीघाट का सर्वसम्मिति से महामन्त्री बनाया गया। आपने अपने कार्य-काल में घर-घर जाकर दान एकत्रित किया। दान की एकत्रित धनराशि अपने आप में विशेष रुप से उल्लेखनीय उपलब्धि थी। क्योंकि इतनी बड़ी राशि इससे पहले कभी एकत्रित नही हुयी थी। ना ही उसके बाद कोई एकत्रित कर सका। इससे आपके कार्य करने की लगन विश्वास एवं लोक-प्रियता का परिचय मिलता है।

सन् १९३८ में दीनानगर' जिला गुरूदासपुर के पुरी घराने में आपकी शादी सौभाग्यवती शान्तारानी से सम्पन्न हुई। श्रीमति शान्तारानी धर्मनिष्ठ एव समाज के प्रति पूर्ण आस्था रखने वाली नारी है, जिनके सहयोग ने सदैव ही आपको प्रोत्साहित किया है।

आपकी सूझबूझ एव योग्यता के फलस्वरुप सन् १९३९ में आपको जिला परिषद् के विधि सलाहकार के पद पर नियुक्त किया गया। आप इस पद पर विभाजन के समय तक कार्य करते रहे। जिला परिषद् का अध्यक्ष डिप्टी-कमिस्नर (उप-आयुक्त) हुआ करता था। जिला परिषद् के सभी प्रकरण न्यायलय में आप प्रस्तुत करते थे। अतः प्रायः सभी कोर्टस् के न्यायाधीश आपकी प्रतिभा का सम्मान करते थे।

न्यायिक क्षेत्र में आपको विशेष सम्मान प्राप्त था। अपनी जान-पहिचान एव अर्जित प्रभाव का उपयोग समाज के हित में उपयोग करने में कभी भी पीछे नही रहे। प्रसंगवश आर्य कन्या पाठशाला से सम्बन्धित घटना का उल्लेख आवश्यक सा प्रतीत होता है। मास्टर मेलाराम, वर्क जो आजकल करनाल में है, ने झेलम आर्य कन्या पाठशाला प्रारम्भ की। मुसलमान युवकों ने पाठशाला आने जाने वाली बालिकाओं के साथ छेड़खानी करना आरम्भ कर दी। मास्टर मेलाराम, जो पाठशाला के प्रधानाध्यापक भी थे, के मना करने पर उन्हें मारने के लिये आ गये। जब आपको इस घटना का पता चला तो आपने अपने प्रभाव को उपयोग में लाकर उन युवकों को गिरफ्तार करवा

कर एक मुसलमान 'जज' की अदालत में पेश किया। अदालत ने उन मुसलमान युवकों को तीन तीन माह की सजा दी। वह मुसलमान न्यायाधीश आपकी प्रतिमा एव व्यक्तित्व से इतना अधिक प्रभावित हुये कि जीवन पर्यन्त आपको अपने प्रिय भाई के समान स्नेह देते रहे।

जेहलम आर्य समाज एव गुरुकुल, जेहलम के लिये भी सक्रिय रुप से काय करते रहे। मार्च १९४७ में चकवाल तहसील, जिला झेलम में हिन्दुओं एव सिक्खों के बहुत से परिवारों को कत्ल एवं लूटपाट का शिकार बनाया गया। प्रभावित परिवारों को सेना के संरक्षण में काला गांव शिविर में लाकर रखा गया। आपने उन सभी दंगा ग्रस्त परिवारों की ओर से शिकायत दर्ज की और मुकदमें शुरु किये। फल स्वरूप २००० के लगभग मुसलमानों को गिरफ्तार किया गया। लेकिन दुर्भाग्य कि विभाजन ने स्थिति बदल दी और नवनिर्मित पाकिस्तान की सरकार ने उन्हें रिहा कर दिया।

विभाजन के समय भड़क उठे दंगों के कारण हिन्दू और सिक्खों के परिवार भारत प्रयाण करने लगे। उक्त परिवारों की सुख सुविधा के हितों को देखते हुए आप इन्तजामिया कमेटी में सक्रिय हो गये। समाज एव भाई-चारे की प्रवृति से प्रभावित होकर आपने जेहलम में ही रूककर लोगों के जाने की व्यवस्था करने का निश्चय किया। आपने अपने इस सेवा भाव के दृढ़ निश्चय के सम्मुख परिवार के मोह पर भी ध्यान नहीं दिया। मार-काट एवं लूटपाट की विपरीत परिस्थितियों में आपने बड़े ही साहस के साथ अपनी धर्मपत्नी शान्ता जी को छोटे छोटे बच्चों, जिनमें तीन वर्षीय पुत्री भी थी, को अकेले ही भारत भेज दिया। विपरीत परिस्थितियों में यात्रा करती हुई शान्ता जी ने बड़े ही धैर्य एवं साहस का परिचय दिया। जीवन यापन की असुविधायों एवं अभावों में लगभग ११/२ माह की कहानी उनके असाधारण साहस एवं सयम की गाथा है। एक ओर अभावग्रस्त असाधारण स्थिति में बच्चों के साथ श्रीमती शान्ता ज़ी और दूसरी ओर जेहलम में अकेले मरवाह जी जबकि कत्ल एव लूटपाट के समाचार निरन्तर मिल रहे थे। ऐसी विकट परिस्थिति में कितनी मानसिक यन्त्रणा सहन की गयी होगी। सम्भवता उसका वर्णन असम्भव प्रतीत होता है।

पाकिस्तान में स्थिति दिन प्रतिदिन खराब होती जा रही थी। और

मुस्लिम विशेष रूप से हिन्दू एवं सिक्खों का घर से निकलना मुश्किल था। २३ सितम्बर १९४७ की रात को लगभग २५०० हिन्दुओं एवं सिक्खों का कत्ल कर दिया गया। आना जाना जोखिम से भरा था। रेल अथवा बस कोई भी साधन सुरक्षित नहीं था। ऐसी स्थिति में भी आप समाज के कार्यों एवं मानवीय सहायता के लिये सक्रिय रहे। अन्ततः आपको भी अपनी जन्मभूमि छोड़नी पड़ी। एक ट्रक में बैठकर आपने यह यात्रा प्रारम्भ की। लूट-पाट मारकाट एव गोलियों की बौछार से किसी प्रकार बचते हुये अक्टूबर माह में अमृतसर पहुंच सके। इस यात्रा के दौरान बाढ़ के कारण मजबूरन गुजरावाला में लगभग दस दिन गुजारने पड़े। बाढ़ के कारण नदी के जल में मिट्टी घुली हुई थी तथा खाद्य पदार्थों में मुसलमानों द्वारा मिलाया गया विष, भगवान के सहारे ही दिन गुजरे। कुछ दिन पश्चात भारत सरकार द्वारा वायुयानों से गिरायी गयी रसद से प्राण रक्षा सम्भव हुई।

सम्पत्ति जन्म-भूमि के साथ ही छूट गई थी। भारत की स्वतन्त्र भूमि पर अमृतसर में जब कदम रखा तो केवल तन ढ़कने के कपड़े ही एकमात्र आपकी सम्पति थी। लेकिन आपके अदम्य साहस एव धैय ने कभी भी साथ नहीं छोड़ा। कुछ दिनों स्पाटू में रह कर आप दिल्ली आ गये। देश के विभाजन, जीवन निर्वाह की अव्यवस्था ने इतना झकझोर दिया था कि कुछ वर्षों तक समाज को सक्रिय योगदान देने में असमर्थ से रहे। लेकिन जो कुछ देखा था, भोगा था, उससे समाज की आवश्यकता के प्रति आस्था अधिकाधिक गहन होती चली गयी। सन १९५३ से पुन: समाज के क्रिया कलापों की ओर ध्यान देना आरम्भ किया।

भारतीय पुर्नवास विभाग द्वारा सन् १९५३ में मलकागंज में रहने के लिए मकान आवंटित हुआ। व्यवस्थित होने पर मलकागंज में स्थित सोहनगंज आर्यसमाज के सदस्य बन गये। सन १९५९ में आर्य समाज दीवान हाल, चांदनी चौक के सदस्य बन गये। वर्तमान में आर्य समाज दीवान हाल के सम्मानित सदस्य हैं।

सोहनगंज आर्य समाज का कार्यालय अत्यन्त जर्जर अवस्था में था। आपने अपने मित्र सहयोगी एव विशेषत मुवक्किलों से चन्दा लेकर भवन का जीर्णोद्धार कराया। जब तक सोहनगंज आर्य समाज के सदस्य रहे। वहां से एकत्रित होने वाला चन्दा बड़े बड़े समाजों के समकक्ष होता था। इसका मुख्य

कारण आपकी लोकप्रियता एवं दान शीलता थी। क्योंकि आपके व्यवहार के कारण मिला चन्दा एवं आपके द्वारा मिलाया गया मुक्त हस्त भाग सदैव ही समसक्षता बनाये रहता था। कितने ही बार ऐसा हुआ जब आपने पूर्ण राशि स्वयं अपनी आय से जमा की।

अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा के साथ-साथ हिन्दी प्राइमरी कक्षाओं से ही पढ़ना आरम्भ कर दिया था। मातृभाषा से लगाव ने सदैव ही हिन्दी आन्दोलन से सम्बद्ध रखा। हिन्दी आन्दोलन के लिये आप सदैव मुक्त-हस्त से दान देते रहे हैं। आप स्वयं हिन्दी में कार्य करना पसन्द करते हैं तथा अन्य लोगों को भी प्रोत्साहित करते हैं। किसी भी ऐसी संस्था जो मानवीय एवं देश-उत्थान के प्रयोजन से कार्यरत है, को दान देते रहते हैं।

आर्य समाज के लिये आप तन-मन-धन से समर्पित हैं। आर्य समाज से सम्बन्धित किसी भी पथ का कोई भी प्रकरण ही आप सदैव सहायता के लिये तत्पर रहते हैं। न्यायिक प्रकरण में आप किसी भी प्रकार की फीस नहीं लेते बल्कि न्यायालय के अन्य व्यय भी आप वहन करते हैं। आर्य समाज से सम्बन्धित ७२ प्रकरणों में देश के विभिन्न भागों में स्थित न्यायालयों में बिना फीस लिये स्वयं के व्यय पर उपस्थित हुये। आप पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा गुरुकुल कांगड़ी एवं गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय की ओर से सदैव ही उपस्थित होते रहे हैं। किसी भी संस्था से वह फीस नहीं लेते हैं। इस सम्बन्ध में आप अम्बाला, जालन्धर, चण्डीगढ़, अमृतसर, लुधियाना, सहारनपुर, रुड़की, हरिद्वार एवं देहली के न्यायालयों में स्वयं के व्यय पर ही उपस्थित होते रहे हैं।

केवल आर्यसमाजी संस्था ही नहीं बल्कि आर्यसमाज का कोई भी सन्यासी, मनीषी, कार्यकर्ता कोई भी हो आप सदैव ही न्यायिक सहयोग के लिये तत्पर रहते हैं। लाला रामगोपाल शालवाले सन्यास के पश्चात स्वामी आनन्द बोध सरस्वती जी ने चांदनी चौक से संसद का चुनाव जीता था। लालाजी के विरुद्ध चुनाव याचिका के निराकरण हेतु आपने लगभग ६ माह तक अन्य कोई प्रकरण हाथ में नहीं लिया। इस प्रकरण में सफलता प्राप्त की।

श्री शिवकुमार शास्त्री की चुनाव याचिका में भी आप स्वयं के व्यय पर अलीगढ़ जाते रहे। श्री जगदेव सिद्धान्ती जी की चुनाव याचिका के लिये आर्थिक सहयोग प्रदान करने के लिये सदैव अग्रणी रहे। श्री पृथ्वीसिंह के विरुद्ध दाखिल चुनाव याचिका में भीं स्वयं के व्यय पर न्यायालय में उपस्थित होते रहे थे।

आप असत्य को सहन नहीं करते और न ही असत्य भाषी का समर्थन। अगर आपको विश्वास हो जाये कि व्यक्ति विशेष आपका विश्वास प्राप्त कर गलत कार्य कर रहा है या व्यक्ति विशेष आपके व्यक्तित्व एवं प्रभाव का अनुचित उपयोग कर स्वार्थ साधन में लगा हुआ है, कभी क्षमा नहीं करते। आप ऐसा कोई भी कार्य करना पसन्द नही करते जिससे समाज की छवि धूमिल हो और न ही अन्य आर्य समाजी से ऐसी आशा करते है। आर्य समाज के प्रति ऐसा कार्य जिससे अहित हो अपने अभिन्न मित्र या श्रद्धेय पात्र या परिवारजन ही क्यो न हो, कभी क्षमा नहीं करते। प्रसंगवश स्वामी रामेश्वरानन्द का उल्लेख करना यथेष्ठ होगा।

पंजाबी सूबा बनाये जाने की मांग के विरुद्ध स्वामी रामेश्वरानन्द जी ने दीवान हाल चांदनी चौक में अनशन आरम्भ किया था। स्वामी जी ने प्रयोजन को पूर्ण समर्थन देते हुये आप लगभग एक माह तक स्वामी जी की सेवा करते रहे। इस अवधि में आप एक दिन के लिये भी न्यायालय नहीं गये। यह माह आपके जीवन का उल्लेखनीय माह है जिसमें आय केवल शून्य थी। लेकिन श्री विरेन्द्र जी, प्रधान, पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा, कांग्रेस के टिकट पर संसद के उम्मीदवार के विरुद्ध स्वामी रामेश्वरानन्द का जनसंघ का टिकट स्वीकार करना मतभेद का कारण बन गया। क्योंकि इस प्रकार के कार्य से आर्य समाज की प्रतिष्ठा को ठेस पहुंची तथा समाज के दो विभिन्न वर्ग स्पष्टतया बन गये।

एक सच्चे आर्य समाजी के रूप में आपके जीवन का एक और अनुकरणीय प्रसंग का उल्लेख करना आवश्यक समझता हूं। सन् १९२०-३० के दशक में आर्य समाजी किसी भी बात की प्रतिज्ञा करता था उसे जीवन पर्यन्त निभाता था। ऐसी ही प्रतिज्ञा आपने १०-११ वर्ष की आयु में ली, जिसका निर्वाह अभी तक कर रहे हैं। जेहलम में आपके घर के पड़ोस में एक

अभिवक्ता (एडवोकेट) लाला राम असरमल रहा करते थे। वकील साहब के पुत्र न होने के कारण अधेडावस्था में शादी की जिससे उसको पुत्र हुआ उसका नाम था सूरज प्रकाश जो आपका हम उम्र था। हम उम्र के नाते मित्रवत् लड़ाई झगड़े होते रहते थे। अधिकांशत वह मार खा जाता था क्योंकि आपसे कुछ कमजोर थां। एक दिन लाला रामअसरमल ने आपको बुला कर कहा 'तुम एक सच्चे आर्य हो, (उस समय आप कुमार सभा के सक्रिय सदस्य थे) प्रतिज्ञा करो कि सूरज प्रकाश को कभी भी मारोगे नही। आपने प्रतिज्ञा ली कि सूरज प्रकाश को भविष्य में जीवन पर्यन्त मारेंगे ही नहीं वरन् बात भी नही करेंगे। विभाजन के पश्चात सूरज प्रकाश भी दिल्ली आ गये और कस्टोडियन विभाग में उच्च पद पर कार्यरत थे। लेकिन एक सच्चे आर्य समाजी होने के नाते बचपन में ली शपथ के कारण दोनों ने एक दूसरे से बात नही की।

आर्य समाजी संस्थाओं से आपका सम्वध केवल एक कानूनी सलाहकार ही नही बल्कि विभिन्न सस्थानों में विभिन्न पदों पर चुने गये हैं। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि को वर्तमान रूप प्रदान करने मे आपका योगपान उल्लेखनीय है। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान के रूप में आपने कई वर्षों तक कार्य किया है। आप आर्य सभाज दीवान हाल के प्रधान पद पर भी रहे। सार्व-देशिक आर्य प्रतिनिधि सभा से आपका सम्बन्ध लगभग २७ वर्ष पुराना है। आपने इस मभा के कोषाध्यक्ष के पद पर रहकर वर्षों तक संस्था की सेवा की है। गुरुकुल कांगड़ी की विद्या सभा एवं कार्य सभा के सदस्य हैं। आपके सेवा भावी विचारणा के इस पक्ष का उल्लेख भो वर्णनीय है कि आप आर्य समाज की विभिन्न संस्थाओं जिनसे आप जुड़े हैं, उनकी बैठकों में भाग लेने के लिये नियमानुसार व्यय भी संस्था से नहीं लेते वरन् स्वयं वहन करते हैं। निःसन्देह आपकी समर्पित भावना का यह अनुकरणीय प्रसंग है।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय से आपका सम्बन्ध लगभग २२ वर्ष पुराना है। कानूनो सलाहकर, सीनेट कार्यसभा एवं वित्तसभा आदि के सदस्य के रुप में समय समय पर आपके द्वारा दिये गये सुझाव विश्वविद्यालय प्रशासन को स्थिरता प्रदान करने में सहायक हुये हैं।

आर्य समाज के समर्पित कर्मठ, कठोर अनुशासन प्रिय, सजग प्रहरी को १५ अप्रैल १९८७ को सम्पन्न गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार की

सीनेट ने विश्वविद्यालय के परिद्रष्टा १८ पर सर्व सम्मत से चयन किया। आपके चयन से विश्वविद्यालय परिसर मे एक नवचेतना का संचार हुआ है। विश्वविद्यालय का प्रत्येक कर्मचारी आपके मार्ग-दर्शन में एक स्वच्छ प्रशासन की आशा करता है।

दिनांक १६ मई १९८७ को सायंकाल ३.३० पर विश्वविद्यालय भवन (हरिद्वार) में विद्यालय के शिक्षक एवं शिक्षकेत्तर कर्मचारियों को सम्बोधित करते हुये विश्वास दिलाया कि वह न्यायपूर्ण स्वच्छ प्रशासन उपलब्ध कराने के लिये पूर्णतया प्रयत्नशील रहेंगे लेकिन शर्त यह है कि विश्वविद्यालय का प्रत्येक कर्मचारी विश्वविद्यालय प्रशासन का सहयोग करे एवं अपने दायित्यों का पूर्णतः निर्वाह करें।

कुलवासियो को सम्बोधित करते हुये आपने कहा कि आर्य समाज की आस्थाओं में पूर्ण आस्था रखते हुये ऐसा कोई कार्य नही करे जिससे समाज की गरिमा हो। वैदिक समाजिक धार्मिक व्यवस्था को मूर्त रूप देने के प्रयत्न में प्रत्येक कुलवासी को सदैव तत्पर रहना चाहिये।

लेखक को अपने व्यस्त समय में से थोड़ा सा समय देकर इन पंक्तियों को प्रस्तुत करने का जो अवसर दिया उसके लिये आभार प्रदर्शन न करना अशिष्तता होगी।

वार्ता के समय आपने संकेत किया कि सात्विक जीवन को अपनाना एवं वदिक धर्म का व्यवस्था प्रत्येक कुलवासी का दृढ़ लक्ष्य एवं आचरण होना चाहिये।

आपसे आशा है कि आप स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा प्रतिपादित शिक्षा सिद्धान्तों एवं वर्तमान विकसित तकनीकी ज्ञान के मध्य समन्वय करके एक ऐसे सेतु का निर्माण करेंगे जिससे विश्वविद्यालय अपनी पुरानी प्रतिष्ठा ही नहीं वरन् नये आयामों को भी प्रतिष्ठापित करेगा।

# दीक्षान्त भाषण

**महामहिम कुलाधिपति महोदय, कुलपति जी,**
**सभासद महानुभाव, अध्यापकगण, उपस्थित आर्यबन्धु,**
**देवियों एवं नव-स्नातकगण !**

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में मुझे भाग लेने का जो अवसर मिला है उसके लिये मैं विश्वविद्यालय के अधिकारियों का आभारी हूँ। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की स्थापना स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-नीति के आधार पर वर्ष १९०१ में की थी। धर्म एवं देश की रक्षा तथा समाज-सुधार के लिये स्वामी जी ने अपना सम्पूर्ण जीवन समाज को समर्पित कर दिया था। गुरुकुल खोलने में उनका उद्देश्य एक ऐसी संस्था की स्थापना करना था जहाँ विद्यार्थियों का चरित्र-निर्माण हो, शांति एवं पवित्र वातावरण में वे शिक्षा ग्रहण कर सकें, प्राच्य एवं आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के विषयों का अध्ययन करे तथा भारतीय संस्कृति के पोषक बनकर समाज कल्याण पर चिन्तन करें। गुरू-शिष्य परम्परा में छात्रगण आश्रम में रहकर गुरु के गुणों को ग्रहण कर चरित्रवान् एवं उत्तम नागरिक बनें। ऐसे आध्यात्मिक मनीषी एवं स्वतत्रता-संग्राम के अमर सेनानी स्वामी श्रद्धानन्द महाराज की पावन स्थली में आकर मैं अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करता हूं। यह वही भूमि है जहां राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी, पंडित जवाहर लाल नेहरू, पंडित मदन मोहन मालवीय, श्रीमती इन्दिरा गाँधी जैसे भारत-रत्न पधार चुके हैं।

दीक्षान्त समारोह हमारी संस्कृति में एक महत्वपूर्ण एवं पवित्र संस्कार माना जाता था, जब शिष्य अपनी शिक्षा समाप्त करके अपने आचार्य से आशीर्वाद प्राप्त कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। गुरुकुल का ज्ञान और आचरण समाज को प्रेरणा देता था और समाज कृतज्ञतापूर्वक गुरुकुल को सम्मान और समर्थन देता था। तैत्तरीय उपनिषद् में इस संस्कार का

सजीव एवं विस्तृत चित्रण किया गया है, जब आचार्य शिष्य को गुरुकुल से विदा देते समय व्यावहारिक उपदेश देता है :-

**सत्यं वद । धर्मम् चर । स्वाध्यायान् मा प्रमद ।**

वस्तुतः यही शिक्षा का सार है। आचार्य शिष्य से अपने उपदेशों का अन्धानुसरण करने के लिये नहीं कहता, अपितु यह कहता है कि जो हमारे सत् आचरण हों, उन्हीं का पालन करना, असत् का नहीं। इसके अतिरिक्त आचार्य यह भी कहता था कि आश्रम-शिक्षा तो समाप्त हो गई किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ज्ञानार्जन की प्रक्रिया समाप्त हो गई। उसका विशेष उपदेश होता था कि 'स्वाध्याय से कभी भी विमुख न होना।' 'स्वाध्याय' का अर्थ केवल पढ़ना-पढ़ाना नहीं बल्कि गहराई से ज्ञान प्राप्त करना है।

मुझे विश्वास है कि आप सब इस रहस्य को गम्भीरता से समझकर 'दीक्षान्त' को ज्ञानार्जन की प्रक्रिया का अन्त न मानकर निरन्तर स्वयं सीखने की प्रक्रिया–स्वाध्याय-में रत रहेंगे।

दीक्षान्त समारोह की गरिमा शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् शिक्षा के उद्देश्य की पूर्णता में ही निहित है। प्रश्न यह हैं कि शिक्षा का उद्देश्य क्या है, जिसकी प्राप्ति के लिये प्रत्येक व्यक्ति को कठिन साधना करनी पड़ती हैं और अभिभावकों को अपने बच्चों को शिक्षित करने के लिये अपने हितों का भी उत्सर्ग करना पड़ता है। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का सर्वांगीण विकास है—

'सा विद्या या विमुक्तये।'

विद्या वही है जिससे भौतिक, दैहिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, सामाजिक समस्याओं से मुक्ति प्राप्त हो। जहाँ एक ओर व्यक्ति के लिये कुछ निर्धारित विषयों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हैं वहीं दूसरी ओर यह भी सही है कि किसी मनुष्य में इतनी मानसिक क्षमता नहीं है कि वह संसार की समस्त विद्याओं का अर्जन कर सके। इसी दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि एवं प्रकृति के अनुसार सीमित विद्याओं/विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सन्तोष करना पड़ता है। प्रत्येक दशा में शिक्षा के उद्देश्य की पूर्णता तभी है जब व्यक्ति में ज्ञान-वृद्धि के साथ-साथ व्यक्तिगत गुणों में भी अभिवृद्धि हो और उसमें सामाजिक दायित्व के निर्वाह तथा अर्थोपार्जन की अपेक्षित क्षमता का विकास हो।

मनुष्य ने जब से संगठित समाज में रहना शुरू किया है तब से ही प्रत्येक समाज में नयी पीढ़ी को शिक्षित करने को कोई न कोई व्यवस्था अवश्य रही है। शिक्षा समाज को चलाने और उसके भविष्य की दिशा को पहचानने के लिए एक मूलभूत आवश्यकता होती है। पुरानी पीढ़ी अपने द्वारा अर्जित उस समय के कला-कौशल, सभ्यता, संस्कृति के साथ-साथ अपनी आस्थाये, अपने विश्वास, विचार और भविष्य की कल्पना, सभी कुछ अपने आगे आने वाली पीढ़ी को सौंपती है। इस कार्य के लिए प्रत्येक समाज में किसी न किसी प्रकार की व्यवस्था का निर्माण किया जाता है। इसी को हम उस समाज की शिक्षा व्यवस्था कहते है। प्रत्येक समाज की शिक्षा व्यवस्था उस समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही बनाई जाती है। इसी लिए शिक्षित व्यक्ति पर यह गुरूतर दायित्व होता है कि वह अपने समाज की मूलभूत आवश्यकताओं आशाओं और भविष्य से भली-भाँति परिचित हो और साथ ही साथ उन्हें पूरा करने में सक्षम हो। जो शिक्षा व्यवस्था ऐसे नवयुवकों का निर्माण कर सके वही वास्तव में उचित तथा उपयोगी शिक्षा प्रणाली होती है तथा जो व्यक्ति अपने को इस महत्वपूर्ण सामाजिक दायित्व के लिए तैयार कर चुका हो वही व्यवित सच्चे अर्थो में शिक्षित कहलाने का हकदार होता है।

किसी विशेष प्रकार के ज्ञान को अर्जित कर लेना और उसमें कुशलता प्राप्त करना शिक्षा का केवल एक छोटा-सा ही भाग है। विस्तृत सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उस ज्ञान की उपादेयता से परिचिय होना और अपनी कुशलता का सामाजिक हित में उपयोग करने की प्रवृति तथा क्षमता का होना वास्तव में शिक्षा का मुख्य और महत्वपूर्ण भाग होता है। भारतीय समाज में शिक्षा व्यवस्था की प्राचीन परम्परायें अत्यन्त गौरवशाली रही हैं। सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम शिक्षा व्यवस्था द्वारा शिक्षित पीढ़ियों ने ही प्राचीन काल में हमारे समाज को विश्व में अग्रणी बनाया था।

प्राचीन काल की मान्यताओं के विपरीत आज शिक्षा प्राप्त करने का एक मात्र उद्देश्य आर्थिक क्षमता का विकास एवं भौतिक प्रगति ही माना जा रहा हैं, परन्तु शिक्षा को मात्र आर्थिक प्रगति तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। शिक्षा का उद्देश्य एवं क्षेत्र इससे कहीं अधिक व्यापक व श्रेष्ठ है। औपचारिक शिक्षा प्राप्त करने से भी अधिक आवश्यक है व्यक्ति का सुसंस्कृत

होना। शिक्षा के विषयवस्तु को नैतिक:आध्यात्मिक मान्यताओं से समृद्ध करके ही शिक्षा का मूलभूत उद्देश्य पूर्ण होता है। यहां पर उपाधि प्राप्त करने के लिये उपस्थित स्नातक छात्र यदि अपने प्रारम्भिक जीवन में ही शिष्टता, सत्यनिष्ठा, सदाचार आदि का मूल्य समझ लें तो वे भविष्य में बिना किसी संघर्ष के अपने भावी जीवन की दिशा निर्धारित करने में सफल होंगे, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। अब समय आ गया है कि देश, काल एवं परिस्थिति को दृष्टिगत रखते हुए शिक्षा पद्धति में बुनियादी परिवर्तन लाया जाय। मैकाले की शिक्षा पद्धति, जिसका उद्देश्य अंग्रेजी सरकार के कामकाज के लिये 'बाबू' तैयार करना मात्र था, अब हमारे स्वतंत्र राष्ट्र के लिये अधिक उपयोगी नहीं रह गई है। अब यह देश अंग्रेजों का नहीं, हमारा है, आपका है, हम सबका है। अब शिक्षा के वर्तमान ढाँचे में आमूल परिवतन की आवश्यकता है और इसे समाज एवं व्यक्ति के लिये उपयोगी बनाया जाना चाहिए। स्वतन्त्रता के पूर्व महात्मा गाँधी ने हमें शिक्षा के सम्बन्ध में एक नई दिशा दी थी और बुनियादी शिक्षा के रूप में उन्होंने बुनियादी दस्तकारियों के माध्यम से शिक्षा देने के सिद्धान्त को प्रतिपादित कर भारतवासियों को स्वावलम्बन एवं आत्मनिर्भरता का पाठ पढ़ाया था। स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् पं० जवाहर लाल नेहरू ने शिक्षा को देश की बदलती हुई आवश्यकताओं से जोड़ा। प० नेहरू द्वारा डाली गयी बुनियाद पर इमारत बनाने का कार्य भार उनकी सुयोग्य पुत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी पर पड़ा और उन्होंने पहली बार राष्ट्रीय शिक्षा नीति, १९६८ की घोषणा कर राष्ट्र को एक नयी दिशा प्रदान की। उनके समय में देश ने शिक्षा के क्षेत्र में आशातीत प्रगति की।

यह सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये सौभाग्य की बात है कि हमें श्री राजीव गांधी के रूप में एक सुयोग्य नेता मिला है। आपने वर्तमान शिक्षा के ढाँचे को सुदृढ़ करने के लिए तथा शिक्षा को राष्ट्रीय एकता और विकास से सम्बद्ध करने पर बल दिया है तथा शिक्षा की नयी दिशा दी है। इन प्रयासों से ही शिक्षा के इस नये प्रारूप में सम्पूर्ण देश में शिथा की दिशा एक होगी और समाज के योग्य तथा प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति, चाहे वे किसी कमजोर वर्ग के या किसी जाति के क्यों न हों, सभी अपनी योग्यतानुसार अच्छी से अच्छी शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी होंगे।

नयी शिक्षा नीति ने मूलतः यह माना है कि शिक्षा का उद्देश्य केवल

जीविकोपार्जन करने की क्षमता उत्पन्न करना ही नहीं है बल्कि इसका उद्देश्य व्यक्ति के आध्यात्मिक, सामाजिक व्यक्तित्व का विकास करना भी है। शिक्षा द्वारा राष्ट्रीय एकता, धर्मनिरपेक्षता, प्रजातंत्र और समाजवाद को मजबूत बनाया जाना चाहिए। शिक्षा द्वारा समाज में वैज्ञानिक दृष्टिकोण और मानसिक स्वतंत्रता भी लाना आवश्यक है। इन बातों के साथ-साथ शिक्षा का उद्देश्य राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था के लिए आवश्यक मानव शक्ति का विकास और औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक तकनीनी प्रशिक्षण, शोध और नई टेक्नालाजी का विकास करना भी है। शिक्षा द्वारा ही हम अन्ततः राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता का लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं।

प्रत्येक शिक्षित अथवा डिग्रीधारी को नौकरी मिल जाय, यह संभव नहीं है। भिन्न-भिन्न कार्य करने को योग्गता रखने वाले व्यक्तियों को समुचित व्यावसायिक एवं तकनीकी प्रशिक्षण दिया जाय, उनको उपयुक्त नीति से स्वतः रोजगार करने को उत्प्रेरित किया जाय, यही समय की मांग है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति में इसी व्यवसायपरक शिक्षा पर बल दिया गया है। इसके लिये अपेक्षित पाठ्यक्रम तैयार किये जाने चाहिये और अध्यापकों को इस परिवर्तन के लिए तत्परतापूर्वक तैयारी करनो चाहिए। इस तरह शिक्षा और उद्योग के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होंगे और इससे देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास में सहायता प्राप्त होगी।

इस शिक्षा-नीति में समाज के सभी वर्गों को शिक्षा के समान अवसर प्रदान करने की दिशा में ठोस और प्रभावकारी कदम उठाने का निर्देश भी है। किसी भी समाज में स्त्रियों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूण होती है और यह अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है कि आज तक हम स्त्रियों की दशा पर समुचित ध्यान नहीं दे पाये हैं। नई नीति में प्रधानमंत्री ने स्त्रियों की शिक्षा के विस्तार और उसे अधिक प्रभावकारी बनाने पर विशेष बल दिया है। स्त्रियों की शिक्षा के बारे में सामाजिक पूर्वाग्रहों का यथाशक्ति मुकाबला करके इस ओर सामाजिक दृष्टिकोण बदलना अत्यन्त आवश्यक माना गया है। स्त्रियों के साथ भेदभाव को समाप्त करने तथा उन्हें सभी स्तरों की शिक्षा के और अधिग्र अवसर उपलब्ध कराने की ओर प्रदेश शासन का विशेष ध्यान है।

अनुसूचित जाति/जनजाति, दुर्बल वर्ग तथा पिछड़े वर्ग के लोगों की शिक्षा को देश और समाज की उन्नति के लिए आवश्यक मानते हुए उनके

लिए विभिन्न प्रकार की विशेष योजनाओं के माध्यम से विशेष सुविधायें उपलब्ध करायी जायेगी। इन लोगों को शिक्षा की मुख्य धारा में लाने का प्रयास नयी शिक्षा नीति द्वारा किया जायगा।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में सभी दिशाओं में श्रेष्ठता पर बल दिया गया है। देश के विकास के लिए इस स्तर की शिक्षा को सुदृढ़ बनाना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि पिछले चालीस सालों में देश की बढ़ती आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उच्च-शिक्षा का तेजी से विस्तार तो हुआ परन्तु इसके फलस्वरूप उच्च-शिक्षा की गुणात्मकता में गिरावट आई है तथा अनेक कारणों से शिक्षा सत्र अनियमित हो गये है। नयो नीति में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में गुणात्मक सुधार लाने के प्रयत्न किये जायें।

किसी भी राष्ट्र को प्रगति की ओर अग्रसर करने के लिए जिन तत्वों की सर्वाधिक आवश्यकता होती है, वे हैं—अनुशासन, परिश्रम एवं नैतिक मूल्य। इन तीनों के अभाव में कोई भी राष्ट्र प्रगति नहीं कर सकता और न ही इनके बिना चरित्र का निर्माण हो सकता हैं। शनैः-शनैः शिक्षा संस्थाओं से गुरु-शिक्षा का प्राचीन स्वरुप समाप्त होता जा रहा है जिसके परिणाम-स्वरुप संस्थाओं में अनुशासन की समस्यायें बढ़ती जा रहो हैं। इस समस्या के निराकरण की ओर हमारे शिक्षाविदों को ध्यान देना चाहिये। द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण नेस्तनाबूद जापान, जर्मनो जैसे राष्ट्र कठिन परिश्रम के बल पर ही आज आशातीत प्रगति कर विकास के उच्च शिखर पर आरूढ़ हो गये हैं। वे राष्ट्रीय भावना के साथ कार्य करने को ही स्वधर्म समझते हैं परन्तु हमारे देश में प्राकृतिक सम्पदा के बाहुल्य के बावजूद भी हम अभो तक उसका यथेष्ठ उपयोग नहीं कर सके हैं। परिश्रम ही वह कारक है जिसके बल पर बेरोजगारी की समस्या का निदान हो सकेगा और राष्ट्र भी समृद्ध होगा। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए श्रद्धेया श्रीमती इन्दिरा गांधी ने हमें एक नया नारा दिया था— 'श्रमेव जयते।' हमें चाहिये कि एकजुट होकर सत्य-निष्ठा एव अटूट लगन से कठिन परिश्रम करके राष्ट्र के विकास में सतत् योगदान देते रहें। आज समय की सबसे बड़ी मांग है—नैतिक मूल्यों की स्थापना। राष्ट्रीयता की भावना को जागृत करने में नैतिक मूल्यों की सर्वाधिक भूमिका होती है। ये नैतिक मूल्य एवं सात्विक मर्यादायें ही थीं जिनके बल पर चिरकाल से विदेशियों की दासता में जकड़े भारत को अनवरत

संघर्षों के बाद स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकी थी। यही कारण है कि महात्मा गांधी, पण्डित जवाहर लाल नेहरू, महामना पंडित मदन मोहन मालवीय और सरदार पटेल आदि नेताओं के प्रति लोगों के मन में अटूट श्रद्धा, विश्वास एव सम्मान की भावका व्याप्त थी और आज भी उन्हें वही सम्मान दिया जाता हैं। मैं अपेक्षा करूँगा कि हमारे नवयुवक इस मर्यादा का निर्वाह करते हुए नैतिक मूल्यों पर ध्यान देते रहेंगे।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि इस विश्वविद्यालय में पढ़ाई के साथ-साथ सदाचार और चरित्र-निर्माण पर भी विशेष बल दिया जाता है। आज देश में साम्प्रदायिक, शक्तियां फिर से सिर उठा रही हैं, जिसका हमें डटकर मुकाबला करना है। हमारे पूर्वजों के बलिदान से राष्ट्र को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है और इसकी रक्षा करना हमारा पुनीत दायित्व है। शिक्षा संस्थाओं की ऐसे समय में प्रमुख भूमिका रही है और मुझे विश्वास है कि आगे भी वे अपने कतव्यों व दायित्वों का सफल निर्वाह करती रहेंगी।

आज का युग विज्ञान का युग है। हम इस बात के लिये गौरवान्वित हैं कि हमारे वेद-मंत्रों एवं पुराणों में ज्ञान-विज्ञान के मूलमंत्र पाये जाते हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हमारा अतीत विज्ञान एवं प्रोद्योगिकी के क्षेत्र में भो काफी समृद्ध था। यह विश्वविद्यालय बधाई का पात्र है जहाँ विज्ञान के विषयों की शिक्षा भी भारतीय भाषा में दी जाती है।

मुझे इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि इस विश्वविद्यालय में जहाँ प्राच्य भाषा संकाय हैं, वहीं कला एवं विज्ञान संकाय भी हैं। स्नातकोत्तर उपाधि स्तर पर माइक्रोबायोलोजी पाठ्यक्रम तथा स्नातकोत्तर डिप्लोमा के रूप में बायोकैमिस्ट्री तथा कम्प्यूटर पाठ्यक्रम संचाचित हो जाने से यह विश्वविद्यालय विज्ञान के क्षेत्र में भी सराहनीय योगदान दे रहा है।

मुझे यह जानकर अपार हर्ष हुआ है कि इस विश्वविद्यालय के छात्र 'हिमालय इकोलाजिकल योजना' के अन्तर्गत वृक्षारोपण कर, 'गंगा समन्वय योजना' के अन्तगत गंगा के विभिन्न प्रदूषण-स्रोतों का पता लगाकर तथा अनेक स्थानों से जल के नमूने एकत्रित करके विश्लेषण करने में भी कायरत हैं।

आज जो नवयुवक दीक्षा समाप्त करके जीवन संग्राम में प्रवेश कर रहे हैं उनके ऊपर ही यह निर्भर करता है कि वे समाज में अनावश्यक, हानिकारक

तथा अनुपयोगी व्यवस्थाओं को पहचान कर उनके स्थान पर आवश्यक, लाभकर तथा उपयोगी व्यवस्थाओं की स्थापना में अपना महत्वपूर्ण योगदान करें। देश के निर्माण की जिम्मेदारी भले ही वर्तमान पीढ़ी पर हो, उसको निरन्तर विकास की दिशा में ले जाने की जिम्मेदारी सदैव ही नयी पीढ़ी पर होती है। मैं यह आशा करता हूं कि आज नवयुवक इस महत्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह करने में पूरी तरह सक्षम हैं। आप सबसे मेरी और समाज की अपेक्षा है कि आप लोग अपने जीवन में अपने को योग्य सिद्ध करें तथा अपने व्यक्तिगत दायित्वों के साथ-साथ अपने सामाजिक कर्तव्यों को भी पूरा करें तभी आप लोग अपने को गुरुजनों द्वारा दी गई शिक्षा, स्नेह, प्रेम और विश्वास के योग्य पात्र सिद्ध करेंगे।

ऐसे सम्मानित विद्वत्समाज में मेरे लिये उपदेशक का कार्य करना किसी प्रकार उचित नहीं है। अन्त में मैं पुनः कहना चाहूँगा कि विद्यार्थी दीक्षान्त समारोह को अपनी शिक्षा-दीक्षा का अन्त न समझें और निरन्तर ज्ञानार्जन करते हुए समाज के हित में उसका प्रयोग करें। शिक्षा जीवन की एक सतत् प्रक्रिया है। जीवन के हर मोड़ पर उन्हें नित्य एक न एक परीक्षा से गुजरना पड़ेगा। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का मूलमंत्र कभी भी विस्मृत न होने पाये। जिन छात्रों ने इस दीक्षान्त समारोह में उपाधि प्राप्त की है मैं उनको बधाई देता हूं और उनके उज्जवल भविष्य की हृदय से मंगल कामना करता हूं। आप सब राष्ट्र के सच्चे नागरिक बनें और अपने जीवन में सदैव सफलता प्राप्त करें। इन शब्दों के साथ मैं पुन: एक बार उन सभी को धन्यवाद देता हूं जिन्होंने मुझे इस गौरवपूर्ण समारोह में सम्मिलित होने का सुअवसर प्रदान किया है।

धन्यवाद !

संस्कृति परिशिष्ट—

# हमारी संस्कृति और हिन्दी

**डॉ० भगवानदेव पाण्डेय**
प्रवक्ता हिन्दी विभाग
गु० का० वि० वि०

भाषा को संस्कृति की संवाहिका कहा गया है। यह संस्कृति का महत्व-पूर्ण अंग है। मनुष्य की सामाजिकता का आधार भाषा है। व्यक्तियों के जीवन से भाषा का अपना जीवन निर्धारित होता है। जीवन को समृद्ध एवं स्थायी बनाने का कार्य भाषा करती है। भाषा से समाज के सदस्यों की विभिन्नता का एकीकरण करके समन्वय उपस्थित किया जाता है, जिससे व्यक्ति विचारों का आदान-प्रदान कर पाया है। यह सामाजिक विकास का एक साधन है।

विद्वानों का मत है कि हम जो कुछ है, वह संस्कृति है, और जो कुछ हमारे पास है, व हमारी सभ्यता का प्रतीक है। शारीरिक, भौतिक सुविधायें सभ्यता की निशानी हैं, किन्तु संस्कृति मनुष्य की मानसिकता का प्रतिनिधित्व करती हैं। यह मनुष्य के आन्तरिक गुणों में अभिव्यक्त होती है। व्यवहार शक्ति, क्षमा सत्यनिष्ठा, धीरज, सहनशीलता, दया, प्रेम आदि सांस्कृतिक गुण हैं। रामकृष्ण परमहंस के पास भौतिक सुविधाये नहीं थी किन्तु कोई नहीं कह सकता कि वे संस्कृति-सम्पन्न नहीं थे। इसी प्रकार निजामुद्दीन औलिया के पास जीवन ज्ञापन के लिए आवश्यक साधन नहीं थे, फिर भी वे उस समय के शासकों से मिलने तक की इच्छा नहीं रखते थे। इसके बावजूद उनके पास अमूल्य सांस्कृतिक निधि थी।

प्रायः यह देखने में आया है कि मुसीबत के समय ही हमें अपनी संस्कृति धर्म, दर्शन, साहित्यक और भाषा का ध्यान आता है, शेष समय उसे स्मरण भी नहीं रखते। हम उपभोक्तावादी संस्कृति की विदेशी मार से इतने कमजोर होते जा रहे है कि ज्ञान, कर्म और शक्ति तक नहीं पाते। ज्ञान, कर्म और भक्ति की जो धारा प्राचीन साहित्य और संस्कृति से प्रवाहित हुई उससे अलगाववाद के लिए कोई स्थान ही नहीं था। भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के पैर जमाने

से पहले भारतीय-साहित्य धारा का मूलस्रोत भारतीय जनता के हृदय में था।

भारतवर्ष का साँस्कृतिक संतुलन-बिन्दु गंगा-यमुना की धाटी में विशेषतः केन्द्रित रहा है। राम, कृष्ण, और बुद्ध जैसे अवतारी पुरुषों की जन्मभूमि तथा काशी, मथुरा, प्रयाग की पुण्यभूमि देशव्यापी आकर्षण का केन्द्र रही हैं। मथुरा के साथ मदुरै तथा काशी के साथ काँची का नाम अभिन्न रुप से जुड़ा वृन्दावन से नदिया द्वीप के चैतन्य महाप्रभु जुड़े हुए हैं। नरसी मेहता, सूरदास और मीरा में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। महाराष्ट्र के एयनाथ नामदेव और तुकाराम के पदों में जो ज्ञान, वैराग्य और भक्ति की समन्वित भावना व्यक्त हुई, वह गोरखनाथ, कबीर और नानक की वाणी से जुड़ी दिखाई देती है। दक्षिण के अनेक वैष्णव आचार्यों ने भागवत माहात्म्य को वृन्दावन लावर नवोनेव सुसापेसी बताया। उसी भक्ति का नवोन्मेष हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा जैसे साम्प्रदायिकता-विरोध उदार एवं उदात्त प्रेमभाव से परिपूर्ण संतों की वाणी हिन्दी साहित्य को दे गया। कश्मीर की शास्त्रीय परम्परा संस्कृत से होती हुई हिन्दो तक आई और रोति काव्य के रुप में सौंदयत्मिक अभिव्यक्ति से युक्त अद्‌भुत मुक्तक साहित्य दे गई। जायसी, रहीम, रसखान जैसे कवियों की रचनाओं को देखकर कहीं यह नहीं लगता कि हिन्दू और मुसलमान के बीच में कभी कोई साम्प्रदायिक वैमनस्य रहा हो।

प्रारम्भ से ही हिन्दी साहित्य ने जिस आदर्श को प्रतिष्ठित किया वह साँस्कृतिक एकता, मानवीय समता तथा सारे संसार को अपने भावनात्मक विस्तार में समेट लेने की विश्वव्यापि चेतना से युक्त रहा है। नानकदेव द्वारा समर्थित एवं सम्मानित संत-वाजियों का संग्रह व्यापक हिन्दी भाषा की विविध छवियों से युक्त गुरु ग्रंथ साहब पहला धर्म है जिसने हिन्दी को इतना बड़ा गौरव प्रदान किया। रामचरित मानस अवधी की काव्य रचना होकर भी सारे भारत में धर्मग्रन्थों को तरह पूजित हुआ और आज देश-विदेश की अनेकानेक भाषाओं में उसके अनुवाद उपलब्ध हैं। गुजरात में जन्मे स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने धार्मिक विचारों को 'सत्यार्थप्रकाश' नाम से हिन्दी में लिखा जो उनके द्वारा प्रवर्तित आर्य-समाज के अनुयायियों द्वारा धर्मग्रन्थ के रूप में माना जाता है।

भारतेन्दु से लेकर आज तक हिन्दी साहित्य का जो विकास हुआ है वह भी इस मूल धारा से विच्छिन्न नहीं है। भारतेन्दु हिन्दी में स्वभाषा की चेतना के नए संदर्भ में आदि प्रवर्त्तक थे क्योंकि उन्होंने प्रथम बार अंग्रेजों की गुलामी के विरुद्ध देशवासियों को सचेत किया। आज देश अंग्रेजों की पराधीनता से भले ही मुक्त हो चुका हैं लेकिन अंग्रेजी की गुलामी उसे अभी तक जकड़े हुए है। विदेशों के कुत्सित प्रभाव, छद्म संस्कृति तथा झूठो आधुनिकता के मोह ने और भारतीय भाषा के प्रति स्वाभिमान कमी ने उसे इस विडम्बना पूण स्थिति से अभी तक उबरने नहीं दिया है। द्विवेदी युग में भारत-भारती के माध्यम से गुप्त जी ने जिस गहरी राष्ट्रीय भावना के साथ देश के पुनरूद्धार का संकल्प किया था वह आज भी ढूढ़ने से नहीं मिल रहा है।

जिस प्रकार राष्ट्र किसी धर्म सम्प्रदाय, जाति अथवा भाषा की विभिन्नता से ऊपर रहता है, उसी प्रकार राष्ट्रभाषा और सम्पर्क भाषा भी विभिन्न जातियों, उपजातियों, धर्मो, सम्प्रदायों से ऊपर रहती है। किसी देश की जातीय भाषा को न तो दबाया जा सकता है और न उसे बलपूर्वक समाप्त किया जा सकता है। हिन्दी भी देश की जातीय भाषा है। भारत के बाहर बहुत से देशों में हिन्दी का रूप वर्तमान है। बर्मा, लंका, गुयाना, वेस्टइन्डोज अफ्रीका, मलाया, घाना, मिनोनाद, इण्डोनेशिया, फीजी, मारिशस, सूरीनाम आदि देशों में हिन्दो आज भो बोली एवं समझो जाती है। यद्यपि इन देशों में भारत से गिरमिटिहा मजदूर बनाकर ही लोग ले जाये गये थे, लेकिन अपने साथ ले गए हिन्दी भाषा का अपने शरीर एवं परिवार के समान ही पालन-पोषण किया और दिनभर की मेहनत की थकान के बाद मन की शांति के लिए अपने 'मानस' का गान करके उसे पल्लवित किया। भाषा की वह संजीवनी शक्ति अभी भी अस्तंगत नहीं हुई है। उसकी तरफ से मुहँ मोड़ लेने के कारण उसके हम उदार अनुदानों से वंचित हो रहे है। वर्तमान सांस्कृतिक संकट के समाधान के लिए हमें पुनः स्वभाषा की सन्निधि में जाना होगा।

# संस्कृति, समाज और साहित्य: त्रिकोणात्मक अन्तसम्बन्धों की विवेचना

डॉ० सन्त राम वैश्य
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
गु० कां० वि०, हरिद्वार

संस्कृति का समाज और साहित्य से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। संस्कृति तथा साहित्य दोनों का विकास समाज के अन्तर्गत ही होता है। समाज से अलग हटकर न तो साहित्य की कल्पना की जा सकती है और न संस्कृति की ही। साहित्य में हमें जहां समाज के दर्शन होते हैं वहीं उसमें परोक्ष रुप से संस्कृति की भी झलक मिलती है। साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध साहित्य और संस्कृति के विषय में भी बिल्कुल ठीक बैठता है। वस्तुतः साहित्य और संस्कृति तथा समाज मिलकर एक त्रिकोण बनाते है, इसलिए इन तीनों का आपस में त्रिकोणात्मक अन्तसंम्बन्ध हैं।

संस्कृति का जन्म समाज से होता है, इसीलिए इसे समाज की उपज कहा जाता है। समाज की उपज होते हुए भी यह उसकी आत्मा है, उसका व्यक्तित्व है। संस्कृति के द्वारा ही समाज की आत्मा की अभिव्यक्ति होती है तथा उसके विकास के मार्ग का दिशा निर्धारण होता है। सामाजिकता में संस्कृति इस प्रकार घुली-मिली रहती है कि इसका उससे पृथक्करण सम्भव नहीं। फिर भी संस्कृति लोगों की जीवन रीति है, जबकि समाज व्यक्तियों का एक संगठित समूह जो एक निदिष्ट जीवन रीति का अनुसरण करता है। यही जीवन-रीति उनकी संस्कृति है।

संस्कृति का विकास और ह्रास दोनों समाज के ऊपर निर्भर रहता है। संस्कृति का सीधा सम्बन्ध जीवन-मूल्यों से होता हैं। जीवन-मूल्यों की ही निम्नता और उच्चता पर संस्कृति की जीवन-दायिता निर्भर रहती हैं।

जीवन–मूल्य जितने ही उच्च होंगे, संस्कृति भी उतनी ही जीवन-दायी होगी। इसीलिए जिस समाज के अधिकांश व्यक्ति सच्चरित्रवान एवं उच्च नैतिक स्तर वाले होते हैं, उस समाज को संस्कृति भी उच्च होती है। संस्कृति का ह्रास भी समाज द्वारा ही होता है। जब कोई समाज जड़-चिन्तन या भूतकाल की प्रशंसा मात्र में उलझ जाता है तब वह संस्कृति के विकास में अवरोध उत्पन्न करता है।

किसी भी समाज के लिए संस्कृति की बड़ी उपादेयता है। संस्कृति ही ऐसी है जो समाज को विश्रृखलित होने से बचाती है। यदि संस्कृति न रहे तो समाज बिखर जाय। संस्कृति ही समाज तथा उसके व्यक्तियों के मन से कुत्सित वृत्तियों एवं हिंसात्मक भावों को निकालकर उनकी जगह प्रेम, सौहार्द, सद्भाव आदि अहिंसात्मक भावों को बढ़ाती है जिससे समाज में एकता और संगठन कायम रह सके। यद्यपि संस्कृति समाज के लिए होती है, समाज सस्कृति के लिए नहीं, फिर भी समाज, संस्कृति का जनक होने के नाते इसके विकास में सहायक होता है। क्योंकि संस्कृति की सुदृढ़ नींव पर ही समाज की भव्य इमारत खड़ी होती है।

संस्कृति का साहित्य से भी बड़ा निकट का सम्बन्ध है। संस्कृति, समाज की आत्मा है और साहित्य समाज का हृदय। अत: आत्मा और हृदय का जो सम्बन्ध होता है वही साहित्य और संस्कृति में भी है। साहित्य, संस्कृति का वाहक है। साहित्य, कवि का अन्तरतम हृदय भूमि से उत्पन्न हुआ, संस्कृति का ही संदेश वहन करता है। संस्कृति के सभी अंग साहित्य द्वारा ही अभिव्यक्ति पाते हैं।

साहित्य क्या है, इसको स्पष्ट करते हुए भगवान दास केला ने लिखा है– असल में साहित्य वही है, जिससे मनुष्य के विकास और उन्नति में सहायता मिले, जो पाठकों को ऊँचे आदर्श पर ले जाने वाला हो, जो मानव धर्म की शिक्षा दे, अर्थनीति, राजनीति और समाजनीति में संकीर्णता या खुदगर्जी को हटाकर सर्वोदय की भावना को प्रोत्साहित करे, जिससे आदमी अपना जीवन मनुष्य जाति की सेवा और कल्याण में लगाये"[1]।

---

१. मानव संस्कृति – भगवान दास केला, पृ १०८

साहित्य जहां संस्कृति से जुड़ा है, वहीं समाज से भी। साहित्य ही एक ऐसा हे जो लड़खड़ाते युग को पुनर्जीवन प्रदान कर सकता है। वह युग का प्रतिविम्ब ही होता है। समाज के विविध विकृतियों के कारण कुठित हो जाने उसकी चेतना के निष्क्रिय हो जाने तथा उसकी आत्मा के कलुषित हो जाने की स्थिति में साहित्य ही समाज को नई चेतना देता है, नया जीवन देता है। इसीलिए साहित्य को समाज की जीवन-दायिनी शक्ति भी कहा जाता है। साहित्य को देखकर ही समाज की स्थिति का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। साहित्य की मूल प्रेरणाओं को समाज से अलग नहीं किया जा सकता और न ही साहित्य सर्जना के मूल प्रयोजनों को ही। प्रत्येक युग और समाज की परिस्थितियों और जीवन-मूल्यों के अलग-अलग होने के कारण उन्हीं के अनुसार प्रेरणायें और प्रयोजनों में भी बदलाव हुआ करता है। और इसी के साथ ही साहित्य कीं प्रवृत्तियां भी बदलती रहती हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृति, साहित्य और समाज तीनों का आपस में बड़ा गहरा सम्बन्ध है। जिस प्रकार किसी राष्ट्र या देश के साहित्य से उसका समाज कभी अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार उस देश या राष्ट्र के साहित्य से उसकी संस्कृति को भी कोई अलग नहीं कर सकता।

●★●

# हमारी सांस्कृतिक विरासत - योग

—डॉ० त्रिलोक चन्द्र
प्रवक्ता–दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मनुष्य की सर्वाङ्गीण उन्नति वह है जिसमें उसके चारों पुरुषार्थों की सिद्धि होती हो। पुरुषार्थ-चतुष्ट्य की सिद्धि ही भारतीय संस्कृति का मूल आधार है। वर्तमान जीवन अर्थ प्रधान हो गया है। काम अर्थ के ऊपर आश्रित उसका अनन्य मित्र है। इन दोनों के बिना समाज की उन्नति सम्भव नहीं किन्तु केवल ये दोनों नितान्त भौतक हैं। मात्र दोनों का प्राप्ति जिसका उद्देश्य हो, उसका वही परिणाम होता है, जो आज पाश्चात्य राष्ट्रों का है। धर्म और मोक्ष अकेले चल नहीं सकते। इससे अकर्मण्यता को प्रोत्साहन मिलेगा। उन्हें भी अर्थ और काम का आश्रय चाहिए। जब तक प्रत्येक पुरुषार्थ को उचित स्थान नहीं मिलेगा, तब तक समाज उन्नति की अपेक्षा अवनति को ओर ही अग्रसर होगा।

योग भारतीय संस्कृति के मूल में निहित है। वह मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास करने में समर्थ है। परन्तु क्या प्रचलित योग मात्र कुछ ही-क्रियाओं और आसन–व्यायाम ही हैं नहीं। यह तो योग के अंगमात्र हैं। महर्षि पतञ्जलि ने जिस योग की बात की है वह तो अष्टांग है। कुछ लोगों ने मात्र आसनों को ही योग कहकर स्वरूप बिगाड़ दिया है योग था। परिभाषा से ही स्पष्ट है— 'योगश्चित वृत्ति निरोध:' अर्थात् चित की वृत्तियों का निरोध ही योग है। चित्र की वृत्तियों का निरोध आसन या प्राणायाम द्वारा नहीं हो सकता। हां, कुछ बल मिलता है। यमनियमों का पालन, आसन में दृढ़ता, प्राणायाम के द्वारा प्राण पर विजय प्राप्त करना, प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात चित्र को एकाग्र करने के लिए भूमि तैयार हो जाती है। धारणा के इस चित्त को एकाग्र करने का प्रयास करना, प्रयास की

सफलता पर चित्र का एकाग्र होना और परम सत्ता का साक्षात्कार करना, स्वयं को भौतिकता से परे समझ लेना सब कष्टों से आत्यन्तिक मुक्ति प्रदाता है। इसी योग को ऋषियों ने उत्तम साधन कहा है।

क्या संसार से दूर रहना योग के लिए आवश्यक है नहीं। संसार में रहकर जनक की तरह अनासक्त होकर रहना आवश्यक है। यदि सबमें यह भाव दृढ़ हो जाए तो मनुष्य मृत्युमय से मुक्त हो सकता है। वह विश्व बन्धुत्व की भावना से ओतप्रोत हो सकता है। विश्व शांति तभी संभव है। मनुष्य का सम्पूर्ण विकास तभी संभव है।

अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अभीग्रत और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान केवल इन दस बातों को अपनाने मात्र से मनुष्य का नैतिक उत्थान संभव है। नैतिक उन्नति के बिना मनुष्य अपूर्ण है। यूँ कहिए कि पशु है— 'धर्मेण हीम पशुभिः समाना'। नैतिकता की कमी के कारण ही वह आज कष्ट भोग रहा है। नैतिकता ही उसे बचा सकती है और नैतिकता का मार्ग बताता है योग भौतिक चकाचौंध से अन्धा हो रहा मनुष्य अपने भविष्य के प्रति तभी निश्चित हो सकता है जब वह नैतिक हो जाये। नैतिकता के बिना शारीरिक और मानसिक उन्नति संभव नहीं है। आध्यात्मिकता की तो बात करना भी वेबुनियाद है।

मानव की सम्पूर्ण उन्नति जिस समाज में नहीं होती, वह समाज कदापि स्थिर नहीं रह सकता। अपना अस्तित्व बनाए नहीं रख सकता। उसकी सभ्यता और संस्कृति जीवित नहीं रह सकती। उसका ह्रास अवश्यम्भावी है। यदि हमें समाज को, उसकी सभ्यता और संस्कृति को, स्वयं को जीवित रखना है, यदि हमें भौतिकता की त्रासद सभ्यता से बाहर निकलकर आध्यात्मिक उन्नति करनी है तो भारतीय संस्कृति की विरासत योग की ओर ही देखना होगा।

# संस्कृतिः

**डॉ० विजयपाल शास्त्री**
प्रवक्ता दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

संस्कृतिरेव व्यक्तेः समानस्य राष्ट्रस्य च प्राणसम्मिता भवति । संस्कृति-शून्यो देशः न क्षणमपि स्थातुमुत्सहते । शारीरं मानसमाध्यात्मिकं च मालिन्यं निराकृत्य संस्कृतिरेव नैर्मल्यमापादयति । स्वस्था सम्मृद्धा संस्कृतिरेव कमपि राष्ट्रं दीर्घायुष्यं वितरति ।

कस्यचन राष्ट्रस्य जना निजपूर्वजेभ्यः पितृ-पितामहादिभ्यः कुलपरम्परायाश्च सान्निध्यात् यानि कर्तव्यकर्माणि चिन्तनदिशाँ व्यवहार पद्धतिं चाधिगम्य तथैव समाचरन्ति तदनुलकूलञ्च जीवनमतिवाहयन्ति तानिकर्तव्य-कर्माणि चिन्तनप्रकारो व्यवहार शैलो च सम्मिलिता संस्कृतिरित्यमिधीयते ।

बहुविधैः संस्कारैः संस्कृता भूत्वा संस्कृतियन्यान्यपि सभ्यान् संस्करोति । देशकालजलपवनादीनि संस्कृतेः साधनानि । देशकालानुसारमेव पुरुषाणां भोजनासनवसनपानमनोविनोदनादिकं भवति । देशादीनां प्रभावेण जनानाँ मनांसि शरीराणीन्द्रियाणि चास्पृष्टानि भवितुं नार्हन्ति । निश्चप्रचमेव तत्प्रभावो भवति । देशादीनां सम्मृद्धयैवास्मदरेशस्य संस्कृतिः सर्वापेक्षया सम्मृद्धा सुखदा सौभाग्यवर्धिनी चास्ति ।

यस्य देशस्य संस्कृतौ लोकोत्तरा गुणा सर्वातिशायिव्यक्तित्वोद्भाविनी गरिमा विराजते सैव चिरस्थामिनी विश्वम्भरा प्राणिमामिनी, लोकरञ्जिनी विश्वमनोमोहिनी च भवति । सूक्ष्मेक्षिकया विलोकनेन सर्वाश्चैता विशेषता अस्मद् देशीयायामेव संस्कृतौ सुरक्षिता स्तिष्ठन्ति । अस्य।मेव "संगच्छध्वं सवदध्वम्" "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" "शतहस्त समाहर सहस्रहस्तसंकिर"

असतो मा सद्गमय" "वसुधैव कुटुम्बकम्" "योगस्थः कुरु कर्माणि" इत्यादि गुणगणगरिमा विराजते। एषैव व्रजादपि कषेराणां कुसुमादपि सुकुमाराणां कृष्ण रामा बुद्धसन्निभानां महापुरुषाणां लोकोत्तरैश्चरितैराढया सती मोहरति मनांसि सर्वदेशजनानाम्। एषैव सुजोषिता त्यागाय मुनिवृत्तिभिः, दानाय सम्भृयार्थिमिः, सन्तानाय गार्हस्थ्यकाँक्षिभिः अन्ते योगेन च व्यक्त तनुभिर्गरिष्ठैश्च सुननैः। या सस्कृतिर्विर्धिता धीधनैः सम्मृद्धि गमिता महर्षिा, प्रचारिता राजर्षिभिः ब्रह्मत्वं नीता ब्रह्मर्षिभिः, लोकनमस्या कृता लोकोपकारिभिः, प्रणोदिता प्रकृष्टशीलैः सा कथन्न देवैर्वन्दनीया विश्वजनैश्च पूजनीया स्यात्।

कालभेदेन स्थानभेदेन च वैविध्यं भजन्त्यपि संस्कृतिरेषा स्वकीयामेकात्मतां च न व्यजति। बहुविधा जातयोऽत्र समागता, अनेका वैदेशिकाः शासका अत्र शासुः, नैके संग्रामा जाताः, असंख्याताः बर्बराश्चैतां संस्कृति समुच्छेतुं यत्नवन्तः किन्तु नाद्यापि सा जहाति स्वकीयां मौलिकतां गौरवं च। किमपि सम्मोहनं विद्यते नूनमेवात्र।

यज्ञार्थं कर्मसम्पादनम्, निष्कामकर्म रुचिः, विषयेष्वसङ्गः भोगेषु योगः, प्रवृत्तौ निवृत्तिः, विकारहेतौसत्यपि चेतोविक्रियाभावः, ब्रह्मचर्यचरणम, स्वार्थं विहाय परार्थसाधनम्, चातुर्वर्ण्यव्यवस्था, आश्रम पद्धतिः, विद्यानुरागः, स्वदेशभक्तिः, भौतिकता-स्वीकरणेऽपि आध्यात्मिकताप्राधान्यम्, सच्चारित्र्योन्नतिः, मानवताया निष्पादनम्, शान्त्याः समुपासनम्, विश्वबन्धुताया आविर्भावश्चैतानि वैशिष्टयानि यत्र समुन्मीलन्ति सा भारतीया वैदिकी संस्कृतिः कदाचिदपि न धराधामान्निश्शेषतां यास्यति।

कथं वक्तुं शक्नुमोऽस्या माहात्म्यम्। नैषा वाचाँ विषयः। सर्वासु मान्यतासु वैज्ञानिकताऽच राजते, न केवलमन्धानुकरणम्। ब्रह्मचर्यस्य महत्त्व भारतमेव सर्वप्रथमं व्यजानात्। "ब्रह्मचर्यादेव 'शरीरं मानसं लौकिकं" पारलौकिकं चाभ्युत्थानं भवति नाच कस्यचिदपि विपश्चितः संशयः। वैराग्यमेव रागापेक्षया निःश्रेयसकरम्। विषयाणामनित्यत्वात् दुखःपर्यवसानित्वं सुधीजनैः सर्वैरेव निर्णीतम्। तेष्वविचारपूर्वक प्रवर्तनेन हानिरेव भवति। इदं जगत्, सम्बन्धिन इमे, एते पुत्रकलमादयः, सम्मदः, भवनम् प्रभुत्वं, कान्तिमद्वपुश्च सर्वमपि त्याज्यके कस्मिन्दिवसे। सम्मीलने नयनयोर्न किंचिदवशिष्यते। तस्मादिदमेव श्रेयस्करं यत् मृत्योरागमनात्पूर्वमेव मोहभु-

ज्झित्वा वैराग्य सम्पादने यत्नो विद्यातव्यः । एतन्निमित्तमेव वैदिकसंस्कृतौ वानप्रस्थूसन्नयासयोः प्रतिष्ठा कृता । यथा दोपस्तमो व्यपोहति तथा वैरवानसता पुरुषे ज्ञानं सञ्चारयति, संन्यासश्च जीवनलक्ष्यं निर्धारयति ।

नास्ति भारतस्य विश्वेषां राष्ट्राणां च कापि सा समस्या या न भरतभूसम्भवाया: संस्कृत्याः सेवनेन निराकृता, भवेत् । समाजे आर्थिक वैषम्यमपि भारतीय वर्णव्यवस्थया दूरीकर्तुं शक्यते । यदा ब्राह्मणा ज्ञानेन, क्षत्रिया बलेन, वैश्या धनेन शूद्राश्च सेवया समाजमुपकरिष्यन्ति तदा धनलोलुपता धनाभावो धनवितरणवैषम्यं च स्वत एव विनष्टिमेष्यति ।

अद्यतनीयानि सर्वाणि राष्ट्राणि स्वकीयभौतिकोन्नत्यर्थं योजना नवनवा वितन्वन्ति । क्वचित् पाञ्चवर्षिकी क्वचिच्च दाशवर्षिकी योजना प्रवर्तमाना विलोक्यते । आभिर्योजनाभि: नदीषु बन्ध स्थापनं कुल्यारवननं सेतु प्रणयनं नलकूपरवनं यन्त्रशालानां संस्थापनं वैद्युच्छक्तेः प्रसारणं च विधीयते । एतासां योजनानां प्रयोजनं मानवस्य कृते भौतिकवैभवसम्पादनमेव विद्यते । किन्त्वेतया भौतिकोन्नत्या मानवजातिश्चनमाल्लक्ष्यान्मोक्षरूपाद्विमुखी कृतः, मानवधर्माद् विनिपातितः, सर्वोपकारभावनातः पराङ्मुखीकृतः विश्वजनीन धर्माँच्चपरिभ्रंशितः । वैदिकी संस्कृतिर्न भौतिकोन्नतिविरोधिनी । किन्तु सा ब्रवीति यच्चेद भौतिकी समुन्नतिः मानव मनस्सु धर्मामोक्षयोरूद्रेकं न विदधाति तदा तया को लाभः । सा कथमति–

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

संस्कृत्याः प्रयोजनेन तु मानवनिर्माणं भवितव्यम् । पाश्चात्त्या संस्कृतिस्तु भोजनसमस्यां चिन्तमति, वस्त्राणि ध्यायाति, विलाससाधनानि प्रबध्नाति किन्तु मानवता निर्माण दिशि तस्या न कोऽपि प्रयासो विधीयते । भौतिकताया भोगाप्रकारेण आध्यात्मिकता संश्लिष्टेन भाव्यम् । किन्तु वैदेशिका भौतिकतां भौतिकदृष्ट्यैवोपभुञ्जन्ति ।

आतंकवादमपि समुच्छेत्तुमेषा संस्कृतिः क्षमा । 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः, यत्रैषा पावना भावना समुन्मीलति, यत्र च "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इति बिचारधारा विराजते तत्र कोऽवसर आतंकवादस्य ।

दुष्टानां कर्मभिः त एव बिभ्यति ये मृत्यो रसस्यं न जानान्ति । मृत्युस्तु जीवात्मनो वासःपरिवर्तनं विद्यते । पुनश्च जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुव जन्म मृत्स्य चेति नियमो यत्र वर्तते तत्र न भयस्यावकाशः, एतया भावनया क्षेत्रीयता प्रान्तवादादयः समस्याः नाशमेष्यन्ति ।

इत्थमियं संस्कृतिस्तपोवादिनी कर्मवादिनी ब्रह्मचर्यवादिनी वर्णाश्रम-व्यवस्थोपदेशिनी, वैराग्यकारिणी, मानवनिर्माण विधामिनी, आध्यात्मिक-मार्गिणी, चतुर्वर्गफलदायिनी, जन्मान्तर विश्वसिनी, पवित्राचारविचारिणी, मातृशक्ति सम्मानिनी, आतंकवाद प्रान्तवादादि समस्या निरसिनी, समदर्शिनी वैषम्योन्मूलिनी च सम्भूय सर्वोत्कर्षेण वर्तते ।

तपोवनसम्भवा दयादानदाक्षिण्य सत्यतमैभिः सम्पूता दिव्याचयितभह-नीयेयमस्मद्देशीया संस्कृतिः संसारस्य सर्वाएवपि संस्कृतिषु श्रेष्ठा । यत्रान्य-राष्ट्रोद्भवाः संस्कृतयः कालगवरे विलिल्युस्तत्र वैदिकी संस्कृतिर्निज विजयवैजयन्तीमुद्धूयमाना संसाराजिरे सगर्वं विजृम्भते ।

# भारतीय संस्कृतेः गायकः महाकविः कालिदासः

**डॉ० महावीर**
एम० ए० (संस्कृत हिन्दी) व्याकरणाचार्य
पी०-एच० डी० संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

वाल्मीकि-व्यासानन्तरं यदि कस्यापि महातकावेः कमनीय काव्येषु भारतीय-संस्कृतेः मधुर-मधुराणि, उदात्तोदात्तानि, हृदयावर्जकानि च चित्राणि प्राप्यन्ते तर्हि महाकवि-कालिदासस्य काव्येष्वेव। कालिदासः भारतीय संस्कृतेरमरगायकः। पुराकाष्ठे यस्याः संस्कृति मन्दाकिन्याः परमपावनं पानीयं कायिकं, मानसिकं च निखिलं कालुष्यजातं प्रक्षाल्य मानवं-मानवं निर्ममे, यः संस्कृयि-समीरणः विश्वमानवं जीवनस्योत्कृष्टं पन्थानं दिदेश, यया संस्कृत्या देशोऽयं विच्श्श्रगुरुपदे प्रतिष्ठापितः या जगति प्रेम्णः, सत्यस्य, अहिंसाया, विश्वबन्धु-त्वस्य, परोपकारादीनां च साम्राज्यं स्थापितवती, तस्याः भव्यभावोद्बोधिकायाः परमोज्वलायाः भारतीय संस्कृतेः हृद्यमनवद्य चारुचित्रणं कुर्वाणः सरस्वतीसूनु कालिदासः केषां भारताभिजनानां न वन्द्यः। ईदृशं पुत्ररत्नं प्राप्यगौरवेण शिरः उन्नमयन्त्याः भारतमातुः चेतः मोमुद्यतेतमाम्।

कालिदासः श्रृंगाररसस्य, उपमालंकारस्य वा सर्वश्रेष्ठः कविः इति मुहुर्मुहुः व्याहरन्तः ये जना तं कवीश्वरं स्तुवन्ति, प्रशंसन्ति, यशोगान च कुर्वन्ति, नैतत् कवेः प्रशंसनम् निन्दनमेव हि तत्। मदमुचां वाराणानां विजेता मृगेन्द्रः यदि मृगहापदेन स्वूपते तर्हि न सा तस्य स्तुतिः तिरस्कृविरेवसा। कालिदासस्य काव्येयु एकतः श्रृंगार करूणादि रसानां स्रोतस्विनी रसिकानां मनांसि रससिक्तानि कुर्वन्ती प्रवहति, उपमा-रुपक-श्लेष-यमकादि अलंकाराणां प्रभा, प्रकृतेश्च परम रमणीया सुषमा सर्वेषां चित्तानि प्रसभं हरति, अपरतः महाकविना सुगीतानि राष्ट्रस्य संस्कृतेश्च गीतानि देशवासिनाम् अन्तःकरणेषु

स्वं परमं पवित्रं भारतं, प्राचीनतमां च संस्कृतिं प्रति प्रगाढानुरागं जनयन्ति। कविकुल–गुरु–कालिदास विहाय नास्ति कोऽपि अन्यः कविः यस्य रचनासु भारतीय–संस्कृतेः, भारतीयादर्शानां च ईदृशी मनोहारिणी, सुविशाला सुषमा दृष्टिपथ–मुपेयात्।

असौ कविवरः भारतीय जीवनस्य पूर्णत्वं, वैविध्यं च मूलरूपे प्रतिबिम्बितं अकरोत्। यद्यपि महाकवेः सर्वेष्वेव काव्येषु संस्कृतेः मधुरः सन्निवेशः दरीदृश्यते, परं रघुवंश महाकाव्ये भारतीयादर्शानां, संस्कृतेश्च विच्छित्तिः कामपि अनिर्वचनीयां मुदमातनोति। समस्तैः काव्यगुणैः सुभूषितेऽस्मिन् महाकाव्येऽस्माकं निखिल संस्कृतिः, सर्वे च उत्तमोत्तमाः आदर्शाः सचेतना इव परिलक्ष्यन्ते। अहं तु मन्ये अयमेव अस्य महाकाव्यस्य सर्वश्रेष्ठतायाः प्रमुखः हेतुः।

युगाद्–युगान्तराणि व्यतीतानि, सहस्रसां, लक्षाणां संवत्सराणामस्मिन् सुदीर्घेऽन्तराले नैकाः घटनाः घटिताः। विश्वैतिह्ये राष्ट्रानां, जातीनां, संस्कृतीनां च पतनोत्थानस्य अनेकाः कथाः अंकिताः। साम्प्रतं बह्वीनां संस्कृतीनां, सभ्यतानां च भग्नावशेषाण्येव अवलोक्यन्तेऽस्माभिः। परं वाल्मीकि-व्यास-कालिदाससमान् कवीन्द्रान् प्राप्य सुपुष्टा भारतीया संस्कृतिरद्यापि जीवति। न चापि केवलं जीवत्येव, अन्यान् निर्जीवान् अपि जीवयितुं प्रभवति।

अस्याः भारतीयसंस्कृतेः आधारशिला वर्तते वर्णाश्रम व्यवस्था। अस्मांक प्राचीनाः महर्षयः इमं मानवसमाजं चतुर्षु वर्णेषु, चतुर्ष्वेव च आश्रमेषु विभक्तमकार्षुः। कृत्स्नस्यापि जगतो मंगलाय चिन्तयद्भिः साक्षात्कृतधर्मभिः तत्रभवद्भिः आचार्यप्रवरैः गवेषितोऽयं सुपन्था। भगवती श्रुतिरपि इमां वर्णाश्रमपद्धतिं भूयोभूयः पुष्णाति।

महाकविः कालिदासः रघुकुलोद्भवानां भूपतीनां गौरवगाँन विदधानः आश्रम–व्यवस्थायाः चारुचित्रणं चक्रे—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवेने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ रघु० १।८

वेदेषु उपनिषत्सु, दर्शनेषु वा निर्दिष्टाः विविधाः शिक्षाः मानैवस्य

मर्मोद्देशं न तथा स्पृशन्ति यथा काव्येषूपनिबद्धानि रसभरितानि सुधामयानि सुभाषितानि कान्तासम्मिततया अन्तस्तत्वानि विस्फारयन्ति । अयमेव काव्यानां महिमातिशयः ।

अस्याः वर्णाश्रम व्यवस्थायाः पालयितारः, पोषयितारश्च इक्ष्वाकुवंशीयाः राजानोऽधुनापि संसारे यशोदेहेन अमराः सन्ति । मानवानां इहलौकिकं पारलौकिकं च कल्याणसंपादयित्रीम् इमामादर्शं परम्परां कालिदासः आदर्श नायके रघौ प्रादर्शयत्—

अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरूप्रियम् ।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥ रघु. ३।२९
महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्नि द्वियेन्द्रभावं कलभः श्रयन्नि ।
रघुः क्रमाद् यौवन भिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यं मनोहरं वपु ॥ रघु. ३।३१
अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्त्तयद् गुरूः ।

नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पति नमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः ॥ रघु. ३।३३
प्रथम परिगतार्थस्तं रघुः संनिवृत्तं, विजयिनमभिनन्द्यश्वाध्यजायासमेतम् ।
तदुपाहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोभूत् नहि सति कुलधुर्येसूर्यवंश्यागृहाय ।
रघु. ७।७१

कालिदासः चतुर्षु आश्रमेषु गृहस्थाश्रमं सर्वोत्कृष्टं मनुते । यथा सर्वासां पयरिचनीनां नीरमन्ते सागरे एव निलीयते तथा ब्रह्मचर्यादयोऽन्ये आश्रमाः गृहस्थमेव आश्रयन्ते । सर्वान् गृहस्थधर्मान् परिपालयन् मानवः एकतस्तु धर्म-अर्थ–काम मोक्षान् चतुरः पुरुषार्थान् विन्दते, अन्यतश्च सुसन्ततिं प्राप्य पितृ-ऋणादपि विमुच्यते ।

ऋणाभिधानात् स्वयमेव केवलं तथा पितृणां मुमुचे स बन्धनात् ।
रघु, ३।२०
लोकान्तर सुखं पुण्यं तपोदान समुद्भवम् ।
संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥ रघु. १।१९

एवं भूतस्य गृहस्थाश्रमस्य मूलं पाणिग्रहणम् । महाकविः अमुं विवाह वासनातृप्तिहेतुभूतमेव नाङ्गीकरोति । कालिदासस्य नायक-नायिकाः दुष्यन्त–

शकुन्तलदयः पूर्वमन्योन्यस्य शारीरिक सौन्दर्यातिशयेन आकृष्टाः सन्तः प्रेमपाशेनिबद्धाः भवन्ति, परमस्माद् दुरितात् ने शापजन्यां विरहाग्निमेव प्राप्नुवन्ति। वियोगवह्नौ तप्त्वैव तु उज्वलदाम्पत्यभाजः जायन्ते। कविरसौ आदर्श-दाम्पत्यस्य पक्षधरः, यस्य कारणभूतरूपेण विलसति शास्त्रानुकूलं करपीडनम्। अज-इन्द्रमत्योः दाम्पत्यजीवने अयमादर्शः नितरां देदीप्यते। भर्त्तुः जीवने भार्यायाः स्थानं किदृग्भवेत् इति जिज्ञासायां पश्येम अजविलयः–

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललेते कलाविधौ।
करूणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥ रघु. ८।६७

अस्यैव दाम्पत्यप्रेम्णः समुज्वलं रूपं दिलीप-दशरथ–शमादीनां नरश्रेष्ठानां जीवने दरीदृश्यते। सुदक्षिणा–दिलीपयोः स्नेहस्तु किमप्यद्भुतमेव। विवाहोत्सवे क्रियमाणायाः दम्पत्यो प्रतिज्ञाया 'समापो हृदयानि नौ' मूर्त्तिमत् स्वरूपं नयनगोचरी भवति अस्मिन् युगले। कामं नन्दिन्याः सपर्या स्यात्, तपोवनेषु गत्वा तपोऽनुष्ठानं भवेत्, प्रजानुरञ्जनं वा भवेत् सा सुदक्षिणा छायेव तमनुजगाम् यस्य नाम्ना च रघुकुलमद्यापि संसारे प्रसिद्धि वितनोति तस्य पुत्ररत्नस्य रघोराप्तिः अस्य कर्मण फलम्। इदमेव प्रेम सीता–रामयोः दाम्पत्येऽपि परिपूरितं वर्तते। तयोरयं स्नेहः साकेतप्रासादेषु न मुखरितो भवति, सः तु अभिव्यज्यते परमपवित्रे प्रकृतेः रमणीयक्रोडे। स्वर्णमयीं लंकां विजित्य पुष्पकमारूह्य तारापथेन अयोध्यां प्रत्यागच्छन् नयनाभिरामं रामः रत्नाकरमवेक्ष्य स्वां प्राणवल्लभां वैदेहीं जगाद—

मुखार्पणेषु प्रकृति प्रगल्भा स्वयं तरङ्गाधरदानदक्ष।
अनन्य सामान्य कलत्रवृत्ति पिबत्यसौ पाययते च सिन्धू। रघु. १३।९

सागरेण सरिवावधनाम् अधरणनस्य सरसातिसरसेऽस्मिन् कथने दाशरथिहृदयस्य सुकुमारतमा मधुरा भावा अभिव्यज्यन्ते। सीताया विरहे रघुनन्दनस्य रामस्य वियोगावस्थाया चित्रणं कुर्वाण कविताकामिनीकान्त कालिदास पति-पत्न्यो विशुद्धं प्रेम एव किं नोद्घाटयति। सीतामुखारविन्दात् निसृते अधोऽङ्कित पद्ये महाकवि 'जन्मजन्मान्तरानुबान्ध' स्नेहमाभिव्यनक्ति—

साहं तप सूर्यनिविष्ट दृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्त्ता न च विप्रयोग॥ रघु. १४।६६

दाम्पत्यजीवनस्य सुदृढ़स्नेहसूत्रनिबन्धने अन्या हेतुभूता वर्त्तते सुसन्ततिः महाकविः 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' इति ब्रुवाण इमं सत्यं मुखरीकरोति। अभिज्ञान शाकुन्तले दुष्यन्त मुखेन वात्सल्य रसापगां प्रवाहितां कृत्वा रससिद्ध कवीवर सुपुत्राणां गौरवगानमेव किं नाकरोत् ?

आलक्ष्यदन्त मुकुलान् अनिमित्तहासै—
रव्यक्तवर्ण रमणीयवचः प्रवृत्तीन्
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनी भवन्ति ॥ अभिज्ञानशाकुन्तल ७।१७

इत्थमेव गृहस्थाश्रमेऽनिवार्यरूपेण करणीयानां पञ्च महायज्ञानां, षोडश संस्काराणां, धार्मिक कृत्यानां च प्रतिपादनं कृत्वा महाकवि भारतीयसंस्कृते समुज्वालानि विविधानि पक्ष।णि प्रकाशयति।

ब्रह्मचर्यादीनामाश्रमाणां महत्वं प्रकटयन् कालिदासः गुरुकुलेषु उपनीय वेदादिसच्छास्त्राणामध्ययनं विदधतां ब्रह्मचारिणां, वार्द्धक्ये कृत्स्नमैश्वर्यंजातं संत्यज्य सुपुत्रेषु निखिलं गृहस्थभारं समर्प्य मुनिवृत्तिं संधार्य फलमूलाशनानां वर्णनं परमया श्रद्धया करोति। इत्थंभूतेषु बर्णनेषु तपोधनान् आश्रमा।न् च प्रति कवे श्रद्धातिरेकः स्वयमेव प्रस्फुटी भवति, य तो हि नेयं भारतीया संस्कृतिः अभ्रलिहेषु प्रासादेषु पुष्पिता, पल्लविता अभूत् इयंतु तपोवनानाँ परमपुनीते सुरम्ये प्राङ्गणे क्रीडन्ती नवजीवनं प्राप।

मुनिवनतरूच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये।
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥ रघु. ३।७०

यथा आश्रम व्यवस्था तथैव बर्णव्यवस्था आस्माकीन्या संस्कृतेरन्यतम वैशिष्ट्यम्। पुराकाले सुपुष्टया अनयैव वर्णव्यवस्थापावयं राष्ट्रस्थ समाजस्य च अज्ञान-अन्याय-अभावरूपाणाम् त्रयानामरीणां समूलोच्छेदे समर्था अमूम। महर्षि मनुरापि इमां वर्णव्यवस्थां मनुस्मृतौ विशदीचकार। अस्य महाकवेः कालिदासस्य मनुनिर्दिष्टायां संस्कृतौ पूर्णनिष्ठा रघुवंशस्य प्रारम्भे एव प्रकटिता भवति—

रेखामात्रमपिक्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ।। रघु. १।१७

दुष्यन्तस्य राज्ये सर्वे पौरजानपदाः स्वं स्व धर्ममपालयन् । न केवलं विप्राः क्षत्रिया वा शूद्रा अपि स्वां स्वां मर्यादां नोल्लङ्घयामासुः—

महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ ।
न कश्चिद् वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते ।। शाकु. ५।१०

महाकविः कौत्सस्य गुरुदक्षिणा प्रसंगे रघुणा ऋषिकुमारस्य कौत्सस्य वेदोक्तविधिना आतिथ्यं कारयित्वा यत्र शान्तसमस्तकिल्विषानरे, निगमागम-निपुणान्, अग्रजन्मानः प्रति स्वामारित्तक्य बुद्धिं प्रकटीचकार तत्र विदित-वेदितव्यस्य गुरोः वरतन्तोः योगक्षेमं पृच्छमानः एकस्मिन् सद्विप्रे के के सद्गुणाः स्युरित्यपि प्रबोधयामास—

अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबृध्दे कुशलीगुरूस्ते ।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्परश्मेः ।। रघु.

क्षात्र धर्मस्य महिमा मण्डितं रूपं तु कालिदासस्य काव्येषु सर्वत्रैव दृगोचरी भवति । रघुवंशें तमुदात्तं क्षात्रधर्मं वयं राजनि दिलीपे, रघौ, रामे, शाकुन्तले च दुष्यन्ते निभालयामः—

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्ते प्राणैरूपक्रोशमलीमसैर्वा ।। रघु. २।१५

कर्त्तव्याध्वनि, यशोरक्षायां, राष्ट्राध्वरे वा प्रसन्नतया जीवनद्विप्रदानं कालिदासस्य नायकानां चारित्रिकं वैशिष्ट्यं विद्यते ।

कालिदासमते भूपतेः प्रथमं कर्त्तव्यं त्यागपूर्वकम् अनासक्तभावेन राज्य-स्योपभोगः, तस्य परिपालनञ्च । स्वं धर्मं परिपालयन् कामं प्राणा यान्तु परं न स्वधर्मः त्याज्य अयं कालिदास्य सन्देशः पदे-पदे अवालोक्यते । नास्ति महाकवेः परमा आस्था एकान्तविध्वंसिनि देहे -

एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु । रघु. २।५७

ब्राह्म-क्षात्रधर्म वर्णने कालिदासस्य मनोविशेषेण रमते। वणिजां, शूद्राणां च चित्रणं न तेन बहुश कृत:।

परमात्मनि परमा श्रद्धा, पुनर्जन्म, कर्मवाद पुरुषार्थचतुष्टयम्, समन्वयवादिता, प्राणिमात्रं प्रति दया, विश्वबन्धुत्वम् इत्यादयोयेऽनेके गुणाः भारतीयाया संस्कृते स्वीक्रियन्ते, ते सर्वे कालिदासकाव्येषु यत्र तत्र सर्वत्र विकीर्णा सन्त वर्तमाने विषमे कालेऽपि प्रभवन्ति पतनोन्मुखस्य विश्वस्य परित्राणाय।

जयताद्भुवि कालिदास जयताच्च भारतीया संस्कृति ॥

*——*

# गुरुकुल समाचार

## वार्षिकोत्सव

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का ८७ वाँ वार्षिकोत्सव दिनांक ८ अप्रैल से १४ अप्रैल ८७ तक सोल्लास मनाया गया।

**यजुर्वेद पारायण यज्ञ–** दिनांक ८ अप्रैल से १३ अप्रैल तक प्रात:काल ७-३० बजे से १०-०० बजे प्रतिदिन श्री श्यामसुन्दर स्नातक के ब्रह्मात्व में यज्ञ सम्पन्न हुआ। श्री हरिशरण सिद्धान्तालंकार से मधुर प्रवचनों से गुरुकुल वासियों को अपरिमित आह्लाद की प्राप्ति हुई। डा० भारतभूषण, डा० सत्यव्रत राजेश, श्री वेदप्रकाश शास्त्री, डा० महावीर ने वेदपाठ किया। डा० हरिप्रकाश यज्ञ के संयोजक रहे। अभ्यागतों द्वारा मुक्त हस्त से दान देकर यज्ञ में सहयोग दिया।

**ध्वजारोहण—** कुलाधिपति डा० सत्यकेतु विद्यालंलार द्वारा दिनांक ११ अप्रैल को ध्वजारोहण किया गया तथा विधिवत् वार्षिकोत्सव की उद्घाटन किया गया।

**कवि सम्मेलन—** डा० विष्णुदत्त राकेश ने रात्रि में ८-३० बजे से कवि सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें ऋषिकेश, देहरादून, मेरठ, सहारनपुर तथा हरिद्वार के विभिन्न कवि बन्धुओं ने सोल्लात भाग लिया।

**राष्ट्र एकता सम्मेलन—** राष्ट्र की प्रतिदिन बिगड़ती स्थिति को ध्यान में रखकर १२ अप्रैल को किया गया राष्ट्र एकता सम्मेलन का आयोजन अत्यन्त सराहनीय रहा। सार्वदेशिक आ० प्र० सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती की अध्यक्षता में यह सम्मेलन सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर स्वामी जी ने जनता से अपील की कि वे सम्प्रदायवाद की संकीर्ण विचारधारा से ऊपर उठें और भारतीयता की बात सोचें। अन्य वक्ता साव० आ० प्र० सभा

के मंत्री श्री सच्चिदानन्द शास्त्री ने भी आर्य समाज के कन्धों पर राष्ट्रीय एकता के भार होने की बात कहीं।

**विशेष व्याख्यान—** रात्रि ८-३० बजे डा० जयदेव वेदालंकार अध्यक्ष दर्शन विभाग ने विशेष व्याख्यानों का आयोजन किया जिसकी अध्यक्षता प्रसिद्ध बिधिवेत्ता एवं परिद्रष्टा श्री सोमनाथ मरवाह ने की। प्रमुख वक्ता आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान श्री वीरेन्द्र ने कहा कि आज गुरुकुल को नए आयाम दिए जाने आवश्यक हैं। जब मैं गुरुकुल में आता था, स्वामी श्रद्धानन्द के त्यागी तपस्वी जीवन का विद्यार्थियों पर सीधा प्रभाव पड़ता था। आज स्थिति ऐसी नहीं है। १९१२ में जब गुरुकुल का पहला वार्षिकोत्सव हुआ जिसमें केवल दो ब्रह्मचारियों को उपाधि दी गई, उस समय उत्सव में सम्मिलित होने वाले महानुभावों की संख्या १०,००० बताई जाती है जबकि लोगों के पास गंगा पार जाने के लिए साधन भी नहीं थे। आज मुट्ठीभर लोग उत्सव में सम्मिलित होते हैं। इसका कारण तलाश करना होगा तथा गुरुकुल को पुनः उसके सम्मानित स्थान पर प्रतिष्ठित करना होगा।

अन्य वक्ता श्री धर्मपाल, मंत्री आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली ने गुरुकुल की मर्यादाओं का पालन करते हुए निरन्तर समृद्धि की ओर ले जाने की बातें कहीं। डा० जयदेव वेदालंकार ने श्रोताओं तथा वक्ताओं का धन्यवाद दिया।

**व्यायाम सम्मेलन—** दिनांक १३ अप्रैल को प्रातःकाल यज्ञ की पूर्णाहुति के पश्चात सायंकाल व्यायाम सम्मेलन का आयोजन किया गया। स्वामी ओमानन्द सरस्वती, कुलपति गुरुकुल झज्जर रोहतक सम्मेलन के अध्यक्ष रहे। सफल संचालक श्री ईश्वर भारद्वाज द्वारा किया गया तथा सहायक के रुप में श्री रणजीत सिंह पी० टी० आई० व शिवकुमार का योगदान सराहनीय रहा। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने पी० टी०, लेजिम, डम्बल, योगासन, स्तूप निर्माण, लाठी, दण्ड-बैठक, अग्निगोले से कूदना आदि मनोरंजक कार्यक्रमों का प्रदर्शन किया। दर्शकों ने मुक्तहस्त से दान देकर उत्साहवर्धन किया। स्वामी ओमानन्द जी ने ब्रह्मचारियों के कार्यक्रम की सराहनीय बतलाते हुए दो सौ रुपये की पुस्तकें दान दी। भारत के निर्माण हेतु ब्रह्मचारियों की आवश्यकता पर बल दिया।

**दीक्षान्त समारोह—** विश्वविद्यालय का दीक्षान्त समारोह दिनांक १४ अप्रैल को सम्पन्न हुआ जिसमें मुख्य अतिथि के रुप में प्रदेश के मुख्यमन्त्री श्री वीर बहादुर सिंह पधारें। कुलगीत के पश्चात आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार के ब्रह्मात्व में यज्ञ सम्पन्न हुआ। मु० मन्त्री ने नई शिक्षा नीति के संदर्भ में गुरुकुल की महत्ता पर प्रकाश डाला जहाँ बिना किसी भेदभाव के सभी समान शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। शिक्षा राष्ट्रीयता धर्मनिरपेक्षता, प्रजातन्त्रं और समाजवाद को मजबूत करना चाहिए। शिक्षा द्वारा ही राष्ट्र आत्मनिर्भर हो सकेगा। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक डिग्रीधारी नौकरी प्राप्त कर लें। जिसकी जैसी रुचि है, वह वैसा ही व्यवसाय चुनकर राष्ट्र की प्रगति में सहायक हो सकता है। उन्होंने कहा कि राष्ट्र की प्रगति के लिए अनुशासन परिश्रम और नैतिक मूल्यों की आवश्यकता होती है। गुरुकुल से अपेक्षा की जाती है कि उक्त तीनों तत्वों का सामंजस्य करके वह राष्ट्र निर्माण में सहायक होगा। उन्होंने गुरुकुल तुस्तकालय व संग्रहालय को विशेष अनुदान देने की घोषणा की। गुरुकुल में ही एक स्टेडियम निर्माण कराने की भी घोषणा की। सब मिलकर ६५ लाख रुपये देने की घोषणा की।

प्रो० आर० सी० शर्मा कुलपति ने शताधिक छात्रों को पी० एच० डी०, एम० ए०, एम० एस० सी०, अलंकार, बी० एस० सी० की उपाधियाँ प्रदान की। आचार्य एवं उपकुलपति प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार ने स्नातकों को आशीर्वाद दिया तथा सन्मार्ग पर चलकर गुरुकुल की कीर्ति दिग्-दिगन्त में फैलाने की कामना की। कुलाधिपति डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने मुख्यमन्त्री को प्रशस्ति पत्र प्रदान किया। पूर्व कुलाधिपति एवं आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब के वर्तमान प्रधान श्री वीरेन्द्र ने भी गुरुकुल की मान्यताओं एव उपलब्धियों की चर्चा करते हुए मुख्यमन्त्री को धन्यवाद ज्ञापन किया तथा यथा सम्भव सहयोग की काममा की।

प्रो० आर० सी० शर्मा कुलपति ने अपने स्वागत भाषाण में गुरुकुल की नीति और विकास को संक्षिप्त झाँकी प्रस्तुत की तथा वि० वि० अनु० आयोग, शिक्षा मंत्रालय आदि के द्वारा दी गई सहायता का उल्लेख करते हुए धन्यवाद दिया। प्रसिद्ध आर्य सन्यासी स्वामी ओमानन्द सरस्वती ने आशीर्वाद दिया। नवस्नातकों के प्रतिनिधि ब्रह्मचारी अरविन्द ने गुरुकुल

की मान्यताग्रों की रक्षा की शपथ ली। पूर्वस्नातकों की ग्रोर से डा० जयदेव वेदालंकार ने ग्रपने नव स्नातक बन्धुग्रों का स्वागत किया। कुलवंदना के पश्चात् कार्यक्रम के समापन की घोषणा की गई। डा० वीरेन्द्र ग्ररोड़ा कुलसचिव व डा० श्याम नारायण सिंह उपकुलसचिव ने कार्यक्रम का संयोजन किया।

**नए परिद्रष्टा—** दिनांक १५ ग्रप्रल को विश्वविद्यालय के कानूनी सलाहकार एवं वरिष्ठ विधिवेत्ता श्री सोमनाथ मरवाह को सीनेट ने डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के स्थान पर परिद्रष्टा नियुक्त किया है। १६ ग्रप्रैल से उन्होंने कार्यभार संभाल लिया। पाठक वृन्द इसी ग्रंक में उन का विस्तृत जीवन परिचय ग्रवलोकन कर सकते है।

**नये परिदृष्टा का स्वागत:—**

श्री सोमनाथ मरवाह सीनियर एडवोकेट हाईकोर्ट नई दिल्ली के नये विजिटिर बनने पर १६-५-८७ को मध्यान्तर चार बजे विश्वविद्यालय के शिक्षक शिक्षकेतर कर्मचारियों ने हार्दिक ग्रभिनन्दन एवं स्वावत किया।

श्री मरवाह जो ने कुलवासियों को सम्बोधित करते हुये कहा कि हम सब को मिलकर गुरुकुल वि० वि० की उन्नति करनी हैं। हमें वैदिक सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए।

**ईश्वर भारद्वाज**
निदेशक योग

= ● =

# गुरुकुल-पत्रिक

मासिक शोध पत्रिका

सम्पादक

डॉ० जयदेव वेदालं

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वा

# सम्पादक-मण्डल




प्रकाशक :

डा० वीरेन्द्र अरोड़ा
कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मुद्रण :

ओ३म प्रिन्टर्स, ज्वालापुर फोन : ३००





मूल्य :

२५.०० रुपये वार्षिक

ओ३म्

# गुरुकुल-पत्रिका

( गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालय की मासिक शोध पत्रिका )


सम्पादक

**डा० जयदेव वेदालंकार**

न्यायाचार्य, पी-एच०डी०, डी०लिट्०

रीडर-अध्यक्ष, दर्शन-विभाग



प्रकाशक

**गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**

| आषाढ़-श्रावण-२०४४ | वर्ष : ३८ | अङ्क : ३-४ |
| --- | --- | --- |
| जून --१९८७ | | पूर्णाङ्क : ३८५- |

मूल्य : ५) रुपये

# विषय सूची



———

# श्रुति सुधा

होता यक्षद्दैव्या होतारा भिषजाश्विनेन्द्रं न जागृवि दिवा नक्तं न भेषजैः शूषँ सरस्वती भिषक् सीसेन दुहऽइन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३६ ॥ यजु० अ २१ मं० ३६

**पदार्थः**—हे (होतः) देने हारे जन ! जैसे (होता) लेनेहारा (दैव्या) दिव्य गुण वालों में प्राप्त (होतार) ग्रहण करने और (भिषजा) वैद्य के समान रोग मिटाने वाले (अश्विना) अग्नि और वायु को (इन्द्रम्) बिजुली के (न) समान (यज्ञत्) संगत करे वा (दिता) दिन और (नक्तम्) रात्रि में (जागृवि) जागती अर्थात् काम के सिद्ध करने में अतिचैन्य (सरस्वती) वैद्यकशास्त्र जानने वाली उत्तम ज्ञानबती स्त्री और (भिषक्) वैद्य (भेषजैः) जलों और (सीसेन) धनुष् के विशेष व्यवहार से (शूषम्) बल के (न) समान (इन्द्रियम्) धन को (दुहे) परिपूर्ण करते हैं वैसे जो (परिस्रुता) सब ओर से प्राप्त हुए रस के साथ (पयः) दुग्ध (सोमः) ओषधिगण (घृतम्) घी (मधु) शहद (व्यन्तु) प्राप्त होवें उनके साथ वर्त्तमान (आज्यस्य) घी का (यज) हवन कर ॥ ३६ ॥

**भावार्थः**—इस में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। हे विद्वान् लोगो ! जैसे अच्छी वैद्यक-विद्या पढ़ी हुई स्त्री काम सिद्ध करने को दिन रात उत्तम यत्र करती हैं वा जैसे वैद्य लोग रोगों को मिटाके शरीर का बल बढ़ते हैं वैसे रहके सब को आनन्दयुक्त होना चाहिये ॥ ३६ ॥

सम्पादकीय–

# वेदों में एक ईश्वर

उपनिषदों में जो सिद्धान्त प्रचलित है वह है कि उपनिषदों का ब्रह्म एक है। आचार्य शंकर के सिद्धान्त तो ब्रह्म ही एक मात्र सत् है शेष सभी मायोपहित चैतन्य हैं। ब्रह्म ही संसार का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण है। परन्तु यदि उपनिषदों को आधार वेद माना जाय तो परस्पर संगति से ऐसा अर्थात् आचार्य शंकर का मत उचित नहीं होता हैं। क्योंकि वेदों में अनेक मन्त्र एक ब्रह्म का प्रतिपादन तो करते हैं परन्तु साथ हो आत्मा अर्थात् जीवात्मा और संसार के पदार्थों की सत्ता भी स्वीकार की गई है। इसी प्रकार उपनिषदों में भी वेद मन्त्रों को लेकर उसी प्रकार का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है जो वेद ने किया है। अन्तर केवल इतना है कि वेद एक सागर है जिसमें सभी प्रकार की विद्याओं का वर्णन बीज रूप में हुआ है। उपनिषदों वेद के केवल एक अंग अर्थात् ज्ञानकाण्ड की अनुभूति परक व्याख्यायें प्रस्तुत करती हैं। उपनिषदों के उन वचनों का अभिप्राय तो हम आगे अध्यायों में स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे, यहाँ केवल वेद और उपनिषदों में ब्रह्म सम्बन्धी मन्त्रों का साम्य दिखाना ही उचित है।

जिस प्रकार उपनिषदों में एक ब्रह्म माना है इसी प्रकार वेदों में भी एक ईश्वर का वर्णन आया है।

१– सृष्टि में जो भी जड़ चेतन संसार है वह समस्त परमेश्वर से व्याप्त है।

२– जो समस्त विश्व का अनुपम स्वामी और अखिल भुवनों का एक पति परमेश्वर है। इसी परमसत्ता का वर्णन परमपुरुष, सृष्टि का अध्यक्ष देवों का देव तथा ब्रह्म आदि नामों से अनेक मन्त्रों में पाया जाता है।

३– जहां ब्रह्म का साक्षात्कार जिज्ञासु कर लेता है तब समस्त भुवनों का साक्षात्कार कर लेता है। क्योंकि वह ब्रह्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म है।

४– विद्वान ब्राह्मण उसी एक ब्रह्म की स्तुति भरी वाणियों से भक्ति करते हैं।

५– हम लोग अपनी रक्षा के लिये उस ईश्वर की, जो जंगम और स्थावर सब का स्वामी है, वही बुद्धि का प्रेरक है, उसकी प्राथना करते हैं।

१- ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् (यजु० ४०-४१ ईशो० १)

२- पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा (ऋ ६।३६।४)

३- सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मण महत् (अथर्वं० १६।८।३७)

४- यत्र लोकाश्च कोशाश्चापो ब्रह्म जनाविदुः। यसच्च यत्र सच्चान्त स्कम्भंतं ब्रहि कतयः स्विदेव स। (अथर्वं० १०।७।१०)

५- ब्रह्माणं ब्रह्मवाहसं गीर्भि सखप्यमृग्भियम्। गां दोहसे हुवे ॥ (ऋ० ६-४५-७)

रूचं ब्राह्मं जनयन्त्रो देवा अग्रे तद ब्रुवन।

यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यातस्त देवा असन्वशे (यजु० ३१।२१)

ओ३म् ब्रह्म खं ब्रह्म। (यजु० ४०।१७)
तमीशानं जगस्तस्थुषस्पतिं (ऋ० अ०-१-अ०-६ व० १५ मं०५)

१- उसी एक ईश्वर को अग्नि, वायु, चन्द्रमा, यम, मातरिश्वा आदि नामों से कहा जाता है।

२- हे अखिल ऐश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर। आपसे भिन्न तथा आप के तुल्य द्यौ लौक और पृथ्वी पर न हुआ है और न होगा हम लोग लौकिक पदाथ अश्व, हाथी आदि सवारियों की इच्छा करते हुये तथा दुग्धादि के लिये गौवों की इच्छा करते हुये ज्ञान और अन्नबल आदि युक्त होकर हम आपकी प्रार्थना एवं उपासना करते हैं।

३- उस परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुये वेद कहता है कि वह शरीर रहित, शुद्ध, नस नाड़ियों से रहित, पापों से रहित स्वयम्भू आदि विशेषों से युक्त हैं।

पश्चिमीय मनीषी और पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित भारतीय विद्वान् यह मानते हैं कि वेदों में ब्रह्म विद्या नहीं है,

---

१- तदेवाग्निस्तदादित्य ............................ (यजु० ३१।१)

२- न त्वां वा अत्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तामघवान्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्तवा हवामहे।
(सामवेद उ० १।४।११)

३- स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमवर्णमस्नाविरं शुद्ध मपापविद्धं कविर्मनीषि परिभूः स्वयम्भूयाथा तथ्यतौर्व्यवधादशाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
(यजु० एवं ईशो० ४०।

ह्म विद्या का विकास वेद के बाद वेदान्त अर्थात् उपनिषदों में हुआ हैं।[1]
द्वान् इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि ऋग्वेद के अन्तिम में आते एकेश्व-
ी भावना कुछ पनप गई थी। परन्तु महर्षि दयानन्द तो इस विचारधारा
म विपरीत उद्घोषणा करते हैं कि वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर के ही
राने में है।[2] उनकी अपनी मान्यता है कि सब वेद वाक्यों में ब्रह्म का ही
दन है कहीं कहीं साक्षात् रूप से कहीं परम्परा से है।[3] महर्षि दयानन्द
इस मान्यता को सिद्ध करने के लिये कठोपनिषद् का प्रमाण देते हैं। समस्त
नके गीत गाते हैं वह ओ३म् हैं।[4] इतना ही नहीं अपितु वेदान्त दर्शन भी
कार करता है कि वेदों में ब्रह्म का वर्णन पाया जाता है।[5]

वमेव सर्वयषां वेदानामीश्वरे मुख्य र्थे मुख्य तात्पर्यंमस्ति।

देव ब्रह्म सर्वत्र वेद वाक्येषु समन्वितं प्ररिपादितमस्ति (ऋग्वेदादिभाष्य०
० वि० वि पृष्ठ ५०)

वचित् साक्षात् क्वचितपरम्परात्याच। ऋग्वेदादि० पृष्ठ ४९ (सम्वत् २००८)
तः परमो र्थो वेदानां ब्रह्मवास्ति। (वही पृष्ठ)

र्वे वेदा यत्पदमामनन्ति (कठोर० १।२।१५) तत्तु समन्वयात् (वें० १।१।४।)

# बाल्मीकि रामायण में वर्णित गुप्तचर व्यवस्था

**सूर्यकान्त श्रीवास्तव**
संग्रहालयाध्यक्ष

शब्द "गुप्तचर" से सामान्यतः अंग्रेजी भाषा के शब्द डिटेकटिव का हिन्दी रूपान्तर माना जाता है। यह व्यवस्था इतनी व्यापक है कि साधारण घटनाओं, आर्थिक सैनिक व्यवस्थाओं को अपने आप में समाहित किये हुये है। "गुप्तचर व्यवस्था की प्राचीनता आदि ग्रन्थ ऋग्वेद से प्रारम्भ मानी जा सकती है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में गुप्तचर के लिये "गूढ़ पुरुष" की संज्ञा प्रयुक्त की गयी है। ऋग्वेद एवं महाकाव्यों में इसका अति नियोजित व्यवस्था के रूप में उल्लेख किया गया है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्रों में विभिन्न कोटि के गुप्तचरों का उल्लेख किया है। इस विषय पर सम्भतः एक उत्तम प्रबन्ध लिखा जा सकता है इस शोध पत्र में अध्ययन का क्षेत्र बाल्मीकि रामायण में वर्णित गुप्तचर व्यवस्था तक ही सीमित है।

प्राचीन साहित्य में वर्णित प्रसगों से स्पष्ट है कि गुप्तचरों का कार्य शान्तिकाल एवं युद्धकाल में किया जाता था। सम्पूर्ण राज्य, मित्रराष्ट्र एव शत्रु पक्ष के राष्ट्रों में यह गुप्तचर स्वच्छन्द विवरण करते हुये आवश्यक जानकारी प्राप्त करते थे।

इस कोटि के गुप्तचरों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर राजा अधिक जानकारी के लिये कार्यपत्र नीति कुशल गुप्तचरों को नियुक्त करता था।

कुछ विशिष्ट कोटि के व्यक्ति भी गुप्तचर का कार्य करते थे जो समाया-नुसार अपने व्यवहारिक ज्ञान से राजा के दूत के रूप में अपने आपका परिचय देते थे। हनुमान को इसी कोटि में रखा जा सकता है।

बाल्मीकि रामायण के प्रसगों के पूर्व इस व्यवस्था के प्राचीनतम् उल्लेखों पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है।

ऋग्वेद में अग्नि (४/४/३/) एवं बरुण (१/२४/१३) के पास गुप्तचरों के होने का उल्लेख किया गया है। एक प्रसंग में गुप्तचरों की अहर्तीए के बारे में वर्णन आया है। यथा—"बुद्धिमान ब्रव शुद्ध पुरुष ही इस कार्य के लिए भेजे जाते थे। अर्थववेद (८, ६१, ३ एवं ६,७३४) में मित्र एवं सोम के पास गुप्तचर होने के प्रमाण उपलब्ध हैं।

महाकाव्य महाभारत एवं रामायण में इस व्यवस्था पर प्रचुर सामग्री उपलब्ध हैं। कुशल प्रशासन एत्रं प्रजा के सुख के लिये इनकी सेवाओं का उपयोग किया जाता था। किन्तु युद्धकाल में इनके कार्यक्षेत्र एवं उत्तरदायित्ध अधिक व्यापक होता था।

रामायण की कथावस्तु कौशल राज्य एवं राक्षस राज रावण के साम्राज्य से सम्बन्धित थी। कुशल प्रशासक अयोध्या नरेश दशरथ के राज्य में गुप्तचर व्यवस्था अत्यन्त कौशल पूर्वक नियोजित थी। राजा दशरथ को अपने राज्य के प्रत्येक भाग, मित्र राष्ट्र एवं शत्रुपक्ष के राष्ट्रों के कार्य की जानकारी मिलती थी।

यथा:—

तेषामविदितं किञ्चत्ष्वषु नास्ति परेषु वा ।
कृतं वापि चारणापि चिकीर्षितम् ॥
बालकाण्ड, ६, ७,

अर्थात् उनके लिये अपने राज्य में अथवा दूसरे राज्य में कोई भी किया गया अथवा किया जाने वाला कार्य अविदित नहीं था क्योंकि वे चरों (गुप्तचरों) द्वारा सब वृतान्त जानते रहते थे।

सामान्यतः राज्य में घूम कर सूचना देने का कार्य गुप्तचर करते थे। इस सम्बन्ध में जन-स्थान के गुप्तचर अकम्पन एवं लंका राज्य में भ्रमण करने वाले शार्दु ल का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है।

जनस्थान में खरदूषण के मारे जाने के बाद अकम्पन द्वारा रावण को सूचना देना। (३, २१, २,) राम के साथ सुग्रीव की वानर सेना का लंका

के समुद्र तट पर पहुंचने की प्रथम सूचना शार्दुल द्वारा ही रावण को प्राप्त हुयी । यथा—

चरोराक्षसराजस्य रावणस्य दुरात्मन: ।
तां दृष्टा सर्वतोव्यग्रं प्रतिगम्य सराक्षस: ॥२॥
प्रविश्य लंङ्का वेगेन रावणं वाक्यमत्रवीत् ।
एष वानरत्रश्र्र्क्षैधो लंङ्कासमभिवर्तंते ॥३॥

अर्थात—

राक्षस राज का पराक्रमी गुप्तचर (शार्दुल) ने पूर्ण रूप से सावधान वानर सेना को देखकर तत्काल लंका पहुंच कर रावण से बोला। हे राजन् बानर एवं ऋृश्रृक्षों का सेना-प्रवाह लंङ्का के समीप आ पहुंचा है। यह सेना असख्य दुष्प्रवेश्य हैं।

युद्धकाण्ड, सर्ग २०

खर-दूषण के मारे जाने के बाद शूर्पनखा राक्षसी (रावण की बहन) रावण के दरबार में पहुंच कर एक कुशल नियोजित गुप्तचर व्यवस्था की नीति का उल्लेख है करते हुये कहती हैं— जो राजा गुप्तचर व्यवस्था को स्वयं नहीं देखता वह राजा हो ही नहीं सकता वह तो एक साधारण मनुष्य की भांति है। दूरदर्शी राजा वही होता है जो दूर देशों के वृतान्त अपने गुप्तचरों द्वारा जानकर काय करता है। तुम्हारे राज्य में ऐसी कोई व्यवस्था ही नहीं दिखाई देती अन्यथा जन-स्थानवासी अपने कुटुम्बियों के बध का समाचार तुम्हें ज्ञात नहीं है।

येषां चारश्च कोशश्च नयश्च जयतां वर ।
अस्वाधीना नरेन्द्रोणां प्राक्ृतैस्ते जनै: समा: ॥७॥
यस्मात्पश्यन्ति दूरस्थान् सर्वानर्थानॢ नराधिपाः
चारेण तस्मादुच्यन्ते राजानौ दीर्घचक्षुषः ॥८॥
अयुक्तचारं मन्येत्वां प्राकृतैः सचिवैर्वृतम् ।
स्वजनं तु जनस्थान हर्तं यो नावबुध्यसे ॥९॥

अरण्यकाण्ड, सग २२

जन-स्थान में राक्षसों के विनाश के सम्पूर्ण समाचार मिलने के पश्चात् रावण ने राम के कार्यो की जानकारी प्राप्त करने के लिये गुप्तचरों की

व्यवस्था की। प्रसगानुसार रावण ने अपने गुप्तचरों से कहा—जन स्थान में जाकर राम के कार्यों की जानकारी प्राप्त करें, वे (राम) कब क्या कर रहे है उनका मन्तव्य क्या है ठीक ठीक मालूम कर सूचना मेरे पास भेज दिया करो।
(आरण्य काण्ड, ३२, ६७)

सुग्रीव द्वारा किष्किन्धा नगर के पास राम एवं लक्ष्मण को घूमते देख कर शत्रुपक्ष का ही समझा था। फलत: उनके बारे में अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करने के लिये हनुमान को गुप्तचर के रूप में भेजा था। इसलिये हनुमान वेष बदल कर राम से मिले थे। सीता की खोज में वानर भेजे गये, विभिन्न दिशाओं में दल नियोजित गुप्तचर व्यवस्था का उदाहरण है।

सुन्दरकाण्ड के चतुर्थ सर्ग में हनुमान द्वारा लंका नगर के वर्णन के समय गुप्तचरों का उल्लेख आया है। यथा:

—ददर्श मध्यमे गुलमे राक्षसस्य चरान् बहून्।
दीक्षिताञ्जतिलान्मुण्डान् गोऽजिनाम्बरवाससः ॥६॥

अर्थात् नगर के मध्य सेना को छावनी में रावण के अनेक गुप्तचरों को देखा। इनमें कोई दीक्षित (गृहस्थ के रूप में), कुछ ने जटायें रखी हुयी थी, कोई मुण्डन कराके सन्यासी के रूप में था, कोई गोचर्म तो कोई मृग चर्म धारण करने वाला था। कुछ तो पूर्णतया नग्न थे।

अशोक वाटिका में सीता का हाल मालूम करके लौटते समय पकड़े जाने पर अपने आपको राम दूत कह कर मुक्त हो आये। क्योंकि राजनैतिक नियम के अन्तंगत दूत अबध्य होता है। रावण के गुप्तचर शुक ने भी पकड़े जाने पर अपने आपको रावण का दूत बताया था। फलत: राम ने उसे वानरों से मुक्त करवा दिया था।

रावण से अपमानित होकर विभीषण के राम के शिविर में पहुंच कर शरण मांगने पर सुग्राव ने उन्हें सन्देह व्यक्त किया कि सम्भवत: यह रावण का गुप्तचर है। जो हम लोगों में फूट डालने के लिये आया है। यथा:

प्रणिधी राक्षसेन्द्रस्य रावणस्य भवेदयम् ।
अनुप्रविश्य सोऽस्मासु भेदं कुर्यान्न संशयः ।।१२।।

युद्धकाण्ड, सर्ग १३.

युद्ध की तैयारी में राम के द्वारा 'गुप्तचरों' के प्रयोग का उल्लेख नहीं मिलता है। लेकिन विभीषण के शरणागत होने वाले प्रस्ताव पर शरम द्वारा ६/१३१ २३ में लंङ्का में गुप्तचर भेजने की बात कहीं है। इससे आभास होता है कि राम द्वारा गुप्तचर व्यवस्था को उपयोग किया गया था। यहां यह भी स्पष्ट करना उपर्युक्त होगा कि विभीषण के शरण में आने से लंका एवं रावण की योजना, एवं सेना आदि के बारे में राम को विश्वसनीय सूचनायें मिल गयी थी। अत: गुप्तचरों का प्रयोग करने की सम्भावना कम हो गयी हों। लेकिन विभीषण द्वारा भेजे गये गुप्तचरों का उल्लेख युद्धकाण्ड के, सर्ग ३७ के श्लोक ७ एवं ८ में किया गया हैं। यथा—"ये सब पक्षी बन कर शत्रु सैन्य में गये थे वहां रावण ने जिस प्रकार अपनी सेना को नगर को रक्षा के लिये नियुक्त किया है, यह देखकर आये है। — इसी सन्दर्भ में रावण की सेना को संख्या का उल्लेख किया गया है। यथा—

गजानां च सहस्रं च रथानाभयुतं परे ।
घ्यानाभयुते द्वे च साग्रकोटिश्च रक्षसाम् ।।१७।।

युद्धकाण्ड, सर्ग ३७

अर्थात् दस हजार हाथी सवार, दस हजार रथ सवार, बीस हजार अश्वारोही एवं एक करोड़ से अधिक पैदल सैनिक हैं।

राम एवं लक्ष्मण सुग्रीव की वानर के साथ समुद्र पर पुल बांध कर लंका के उतरी तट पर पहुंच गयी तब रावण ने अपने विशेष गुप्तचर शुक्र एवं सारण को बुला कर कहा—"मुझे यह जान लेना आवश्यक है कि श्री राम के साथ कितनी सेना है और वानरों का कितना बल है। अतः तुम दोनों गुप्त रूप से वानर सेना की संख्या, सेनापति एवं शक्ति के बारे में मालूम करो।—"

अवश्यं चापि संख्येयं तन्यया बानरं बलम् ।।३।।
भवन्तौ वानरं सैन्य प्रविश्यानुपलक्षितौ ।
परिमाणं च वोर्य च ये च मुख्याः प्लवङ्गमाः ।।४।।

राम और सुग्रीव के मन्त्री कौन से है, जिनका वह दोनों आदर करते है। वे कौन योद्धा है जो सेना के आगे रहते हैं। वस्तुतः कौन कौन शूरवीर है उन सबका पता लगाओ। यह भी मालूम करना है कि राम लक्ष्मण क्या चाहते हैं। उनका पराक्रम कैसा है वह किन-२ आयुधों का प्रयोग करते हैं। आदि (युद्धकाण्ड, सर्ग २५, ५, ८)

रावण की आज्ञा पाकर वे दोनों गुप्तचर (शुक्र एवं सारण) वानर का रूप बना कर वानर सेना के मध्य पहुंच गये। (युद्धकाण्ड, सर्ग २५, श्लोक ४)

ये दोनों राक्षस अपना वेष छुपाये विशाल वानर सेना को देख ही रहे थे कि महातेजस्वी विभीषण इन्हें पहिचान कर राम के सम्मुख पकड़ कर लाये। यथा—

आचयक्षेऽथ रामाय गृहीत्वा शुक्र सारणौ।
मन्त्रिणौ राक्षसेन्द्रस्य लङ्कायाः समनुप्राप्तौ ॥६॥
युद्धकाण्ड, सर्ग २५.

अर्थात् यह दोनों रावण के विश्वस्त मन्त्री शुक्र एवं सारण है और गुप्तचर बन कर लंका से आये हैं।

शुक्र एवं सारण के पकड़े जाने एवं राम द्वारा छोड़ दिये जाने पर लंका लौटने पर रावण ने अन्य कार्य पटु नीति विशारद, कुशल गुप्तचरों को बुलाकर कहा :—

इतो गच्छत् रामस्य व्यवसायं परीक्षथ।
मन्त्रिष्वभ्यन्तरा येऽस्य प्रीत्यातेन समागता ॥२०॥
कथं स्वपिति जागर्ति किमन्यभ्व करिष्यति।
विज्ञाय निपुणं सर्वभागन्त व्यय शेषतः ॥२१॥

अर्थात् तुम लोग यहां से राम के शिविर में जाओ और वह किस समय क्या करना चाहते है मालूम करो। राम के अन्तरङ्ग मन्त्री कौन है उनके कार्यों का भेद चुपके चुपके मालूम करने का प्रयास करो। राम क्या अकेले सोते है, जब वह सोते है तो कौन कौन उनकी निगरानी करता है आदि।

(युद्धकाण्ड, सर्ग ५२)

शार्दुल की अध्यक्षता में यह गुप्तचरों का दल सुबेल पर्वत के समीप पहुंच कर विशाल उत्साह से पूर्ण वानर सेना को देखा। विभीषण द्वारा पुनः पहचान लिये जाने के कारण वहां से भाग आये लेकिन शार्दुल पकड़ा गया। लेकिन श्री राम की दया से छूट कर लंका वापिस आया। लका आकर वानर सेना के उत्साह एव रक्षा तैयारी का उल्लेख करते हुये शार्दुल ने रावण से कहा— हे राजन् ! सुबेल पर्वत पर पड़ाव डाले वानर सेना में कोई भी गुप्तचर जानकारी प्राप्त नहीं कर सकता। वहां बड़े बड़े पराक्रमी एवं बलवान वानर हैं जो राम द्वारा सदैव ही रक्षित हैं। यथा—

न ते चारियतुं शक्या राजन वानर पुङ्गवाः।
विक्रान्ता बलवन्त श्च राघवेण च रक्षिताः॥५॥

युद्धकाण्ड, सर्ग ३०

गुप्तचरों द्वारा लंका में सुबेल पर्वत पर महा-पराक्रमी राम लक्ष्मण एवं सुग्रीव की विशाल वानर सेना के वृतान्त एवं आक्रमण की तैयारी को जानकर रावण ने मन्त्रियों को मन्त्रणा के लिये बुलाया। (३-३१-१--)

युद्ध के काल में शत्रुपक्ष के समाचार प्राप्त करने के लिये गुप्तचरों का उपयोग किया जाता रहा है। युद्ध के गम्भीर समय में वानरों ने प्रसन्न होकर उछल कूद का पता लगाने के लिये रावण ने गुप्तचरों को भेजा।

(युद्धकाण्ड, सर्ग ५१, श्लोक ७)

उपरोक्त प्रसगों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि रामायण काल में "गुप्तचर व्यवस्था" अति नियोजित रूप में प्रायः सभी राष्ट्रों ने अपनाई थी। कुशल प्रशासन राजा होने लिये गुप्तचर व्यवस्था का नियोजन अति आवश्यक था।

चतुर राजा के सम्बन्ध में नीतिविषयक मन्त्रणा का उल्लेख युद्ध अपने में रावण करता है—"कि जो राजा चतुर होते हैं वे गुप्तचरों द्वारा अपने शत्रु के बारे में जानकारी प्राप्त कर रण में अल्प प्रयास से ही शत्रु को पराजित कर देते हैं—"

चारेण विदितः शत्रुः पण्डिऽतैर्वसुधाधिपैः ।
युद्धे स्वलपेन यत्नेन समा साद्य निरस्येत ॥२२॥
अयोध्याकाण्ड, सर्ग २९

गुप्तचर व्यवस्था के प्रति इतने सजग विचार नियोजित गुप्तचर व्यवस्था प्रयास के फलस्वरुप भी रावण की असफलता का मुख्य कारण विभीषण का राम की शरणागत होना हो सकता हैं। क्योंकि रावण को सेना का बल एवं रक्षापंक्ति तथा आयुधों का ज्ञान राम को बड़ी ही सुलभता से मिल गया था ।

निकुम्भिला देवी के मन्दिर में इन्द्रजीत का यज्ञ का निर्णय एवं रावण के पुनः पुनः जीवित होने वाले सिरो का रहस्य किसी गुप्तचर से नहीं वरन् विभीषण से प्राप्त हुआ था ।

स्पष्ट है कि आधुनिक काल में व्याप्त गुप्तचर व्यवस्था एवं कूटनीति प्राचीन काल की ही देन है ।

# मानव का चरमोत्कर्ष - मुक्ति

डॉ० जयदेव वेदालंकार
पी० एच० डी० डी० लिट्०
रीडर अध्यक्ष दर्शन विभाग
विश्वविद्यालय गुरुकुल काँगड़ी

उपनिषदों में मुक्ति के विषय में इस प्रकार आता है कि जो परमात्मा सब प्रकार के पाप, मृत्यु, जरा, शोक आदि से रहित है उसको खोज, अथवा उसको जानने का प्रयास करना चाहिये। उस ब्रह्म के ही कारण मुक्त जीवात्माएँ सब प्रकार के काम को प्राप्त होता है अथवा जानता है[1]। जो परमात्मा को प्राप्त करके मोक्ष-साधनों के द्वारा अपने को शुद्ध करता है, वह मुक्ति को प्राप्त करके दिव्य-नेत्र और शुद्ध मन से सब को देखता है और सर्वत्र विचरता है।[2]

इस प्रकार हमने देखा कि उपनिषदों में भी मुक्ति का वर्णन स्पष्टतया मिलता है। उपनिषदों में कई जगह मुक्ति के लिए 'अमृत' शब्द का प्रयोग किया गया है। और संसार में सब प्रकार के सुख–दुःखों का लेशमात्र भी नहीं रहता, वहां मुक्तात्मा सदा ब्रह्मानन्द में रहता है। महर्षि दयानन्द जी ने सत्यार्थ–प्रकाश के नवम्-समुल्लास में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मुक्ति में जीवात्मा इन्द्रियों के साथ न होकर भी अपने सामर्थ्य से सब प्रकार के आनन्द को भोगता है। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि वह आनन्द विषयानन्द नहीं हैं, अपितु एक ऐसा आनन्द है जो मुक्ति में तब तक बना रहता है जब तक कि जीवात्मा मुक्ति में बना रहता है। उस आनन्द के अनुभव करने के लिए महर्षि–दयानन्द जीवात्मा की स्वशक्ति मानते हैं। जिसको वे बल, पराक्रम आकर्षण, प्रेरणा, गति, भाषण आदि २४ प्रकार से मानते हैं।[3]

---

(२) स एव एषः एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते। यः एते ब्रह्मलोपे विजानातीति। (छान्दोग्य ८।१२।५)॥

(१) यः आत्मा अपहृत पाप मा··· ··· ··· सत्यकामः सत्यसंकल्पः सो अन्वेष्टव्यः ··· ··· ···लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनु विद्यविजानतीति।

(२) यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे।

(छान्दोग्य ८।७।१, (स० ६ वां समुल्लास)॥

(३) पूर्व-पक्ष– उसकी शक्ति कै प्रकार की और कितनी है? (उत्तर-पक्ष) मुख्य एक प्रकार की शक्ति है, परन्तु बल, पराक्रम आकर्षण ··· ··· ···उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम··· ···इन २४ प्रकार के सामर्थ्य–युक्त जीव हैं। इससे मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्ति··· ··· (स० प्र० ६ वां समुल्लास)

पाश्चात्य-दशन में मोक्ष के प्रश्न पर लोग मौन हैं। क्योंकि पाश्चात्य-दर्शनकार उस सूक्ष्म-विवेचना तक नहीं पहुँच पाये थे, जिस सूक्ष्म विवेचना का वर्णन भारतीय ऋषियों ने समाधि-अवस्था को प्राप्त करके किया। इसका यही कारण हो सकता है कि पाश्चात्य-दार्शनिकों के लिए वह साहित्य-उपलब्ध न हो सका जो भारतीय ऋषियों को प्राप्त हुआ। अस्तु, जो भी हो। यद्यपि पाश्चात्य-दर्शन में भी भौतिकवाद के धरातल से ऊपर उठकर हैगल और काण्ट आदि दार्शनिक पूर्ण प्रत्ययवाद में प्रवेश करने की चेष्टा करते हुए दिखाई देते हैं, परन्तु भारतीय-दर्शनों के तारतम्य और उनके सदृश गम्भीरता का लेश उनके दर्शनों में हमें तनिक भी प्राप्त नहीं हो पाता। यह अन्तर इसलिए है कि भारतीय-दार्शनिक अन्दर से बाहर की ओर आते हैं अर्थात् आध्यात्मिक-जगत् से बाह्यजगत् की ओर पदार्पण करते हैं अथवा बाह्यजगत् की व्याख्या करते हैं।[1] परन्तु पाश्चात्य-दर्शन के अन्दर हम इस चीज का अभाव पाते हैं। वे पहले जगत् की व्याख्या करते हैं, फिर मन की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। पाश्चात्य-देशों में भी आजकल के दार्शनिक कुछ आत्मा और उसके स्वरुप के विषय में जानने का प्रयास कर रहे हैं। परन्तु इतना स्पष्ट है कि मुक्ति के विषय में उनकी कुछ स्पष्ट भावनायें प्राप्त नहीं होती हैं।

मुक्ति के स्वरुप का वर्णन करने के पश्चात् संक्षेप में मुक्ति के साधनों का वर्णन करते हैं। मुमुक्षु वही हो सकता है जो श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार, जिसको श्रवण-चतुष्टय कहते हैं, इनका पालन ध्यानपूर्वक करे। क्योंकि जो गुरू ने कहा उसको ध्यान से सुना न जाए और सुने हुए का मनन न किया जावे, मनन करने के पश्चात् जैसा निश्चय हुआ हो, उसके अनुसार चला न जावे, उसके अनुसार आचरण करके उसको यथार्थ-रूप से जान न लिया जावे तब तक साधक मुक्ति के साधनों का पालन नहीं कर सकता। हमारे शास्त्रों में पाँच कोशों का वर्णन आता हैं। १. अन्नमय कोश जो हमारी त्वचा से लेकर समस्त स्थूल-शरीर का भाग माना जाता हैं। २. प्राणमय कोश-जिसमें प्राण अपान आदि दसों प्रकार के प्राणों का वर्णन हैं। जब योगी एकान्त स्थान में जाकर के प्राणायाम का अभ्यास करता है तो उसके शरीर की सब धातुये निर्मल हो जाती हैं और मन पवित्र हो जाता है। ३. मनोमय कोश- इस कोश में मन के साथ पाँचों कर्मेन्द्रियाँ हैं। मन और पाँच कर्मेन्द्रियों की शुद्धि और उनकी रचना के रहस्य को जान लेता है। ४, विज्ञानमय कोश-जिसमें बुद्धि व पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ सम्मिलित हैं। ५. आनन्दमय कोश-जिसमें सबका आधार कारण रूप प्रकृति हैं, उसके रहस्य को अच्छी प्रकार जानता है। इस प्रकार ये पांच अवस्थायें हैं, जिनको

(१) यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे।

परमात्मा की सभी प्रकार की आज्ञाओं का पालन करता हैं। इस प्रकार साधक स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाता हुआ सभी गुप्त रहस्यों को जानने का प्रयास करता है।

पांच प्रकार के क्लेश हैं, जिनके कारण हम बन्धन में फंसे रहते है। वे हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।[1] जो मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं। वे इन पांच प्रकार के क्लेशों से दूर रहें। अनित्य में नित्य बुद्धि अपवित्रता में पवित्रता की बुद्धि। जैसे हम इस हाड़ मांस के शरीर को पवित्र समझ कर इसी में फंसे रहते है। जो वस्तुए दुःखदेने वाली हैं उन्हें सुखदायी समझना। जैसे संसार के भोग दुःख देने वाले ही हैं परन्तु इनको सुखदायी समझकर इनमें ही मग्न रहना। इसी प्रकार जड़ पदार्थों में चेतन बुद्धि करना और चेतन में जड़ भाव करना। अपने को ही सब कुछ समझना, अहंकार भाव को सदा बनाये रखना।[2] यह चार प्रकार की अविधा सभी जीवों को नचाती रहती है। इसके विपरीत विद्या कहलाती है। इन उपरोक्त प्रकार की अविद्याओं से मनुष्य जब छूटता है तभी वह मुक्ति प्राप्त करता है।[3] जब योगो समाधि योग के द्वारा अविद्या आदि मलों को नष्ट कर देता है, आत्मस्थ होकर जो जगदीश्वर का ध्यान करता है, उस समय जो योगी को ज्ञान प्राप्त होता है वह वाणी द्वारा नहीं बतलाया जा सकता।[4]

मुक्ति-प्राप्ति के लिये योगदर्शन में अष्टांगयोग का वर्णन आता है। जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हैं। यम पांच प्रकार का होता है— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। नियम— शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान पांच प्रकार का होता है। यम, नियमों में यमों का पालन अत्यन्त आवश्यक बतलाया गया है। देश, काल और परिस्थिति आदि सभी दृष्टियों से यमों का पालन अत्यन्त आवश्यक है।

---

४. समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसोनिवेशितस्यात्मनियत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्तः करणेन गृह्यते॥ मै० ४/३/९

३. जब विद्या से अविद्या की निवृति होती है तब बन्धन··· ··· मुक्ति को प्राप्त होता। ऋग्वे० भूमिका )

२. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्म ख्यातिरविद्या ( १-२-५ ) ऋ० प्र० भूमिका मुक्ति।

१. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः अ० १-पा० २ सूत्र- ३ प्र० (स० प्र० नवम समुल्लास)

षटक सम्पत्ति मुक्ति के साधनों में अपना महत्व पूर्ण स्थान रखती है। १. शम – मन को अशुभ–कर्मों से हटा कर पुण्य कर्मो में लगाना 'शम' कहलाता है। २. दम— इन्द्रिय – निग्रह करने का नाम 'दम' है। ३. उपरति— दुष्ट–पुरुषों से उपराम होना अर्थात् विलासी - मनुष्यों का संसर्ग न करना। ४. तितिक्षा— हर्ष तथा शोक, हानि और लाभ इत्यादि विषमावस्थाओं में समान रहने का प्रयास करना 'तितिक्षा' कहलाता है। ५. श्रद्धा— योग - साधनों और ऋषियों के वचनों में आस्था रखने का नाम श्रद्धा है। क्योंकि जब तक मुक्ति के सभी साधनों को श्रद्धापूर्वक नहीं किया जाएगा, तब तक उनकी सिद्धि नहीं हो सकती। ६. समाधान— चित को बाह्य - विषयो से हटा कर पूर्ण रूपेण एकाग्र करने का नाम समाधान है।

मुक्ति का अगला साधन मुमुक्षुत्व है। जैसे कि हम देखते हैं कि जब हमें भूख, प्यास. का अनुभव होता है, उस समय भोजन और जलादि के अतिरिक्त हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता। ठीक इसी प्रकार मुक्ति के साधनों को करते हुये संसार के सभी विषयों से घृणा हो कर मुक्ति के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगना चाहिए। संसार के विषय तो साधक को विष के समान समझने चाहिए। अत: साधक ईर्ष्या, द्वेष, काम और अभिमान आदि दोषों से हमेशा बचे शान्त-प्रकृति, सात्विकता और सदैव चित्त को पवित्र रखने का प्रयास करे। उसको इन चार प्रकार के गुणों को धारण करना चाहिए। १. मैत्री— अच्छे लोगों से मित्रता करने का नाम मैत्री है। २. करुणा— दु:खी जनों पर दया करना। ३. मुदिता— पुण्यात्माओं को देखकर प्रसन्न होना। ४. उपेक्षा— दुष्ट लोगों मे न प्रीति करना और न ही बैर करना।

★ — ★

# लघुगुणक की कहानी

—ले० डॉ० विजयेन्द्र कुमार
रीडर गणित विभाग
विज्ञान महाविद्यालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
तथा कु० सरिता रानी

बड़ी संख्याओं का गुणा करना, भाग देना, वर्ग आदि करना तथा वर्गमूल घनमूल आदि ज्ञात करना अत्यन्त समय लगाने वाली कठिन क्रियायें तो है ही साथ साथ इनमें साधारण त्रुटियाँ भी होने की सम्भावना रहती है। इन कठिनाइयों के निराकरण के लिये नेपियर ने लघुगुणक का आविष्कार किया।

जोन नेपियर का जन्म सन् १५५० में हुआ था। इनके पिता श्री अलैक्जेंन्डर नेपियर नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। सन् १५७२ में अध्ययन समाप्त होने के पश्चात् ये अपने पिता की सम्पत्ति की देखरेख हेतु परिवार सहित स्टिरलिंगशायर में रहने लगे।

जोन नेपियर कट्टर प्रोटैस्टैन्ट थे। धार्मिक आस्था के कारण प्रारम्भिक समय में इन्होंने विधर्मियों से अपने धर्म की रक्षा के लिये तरह तरह के युद्ध में काम आने वाले शस्त्र बनाने की योजना बनाई। उसने शत्रु के जलपोतों को दूर से ही जला देने वाला दर्पण बनाने की योजना थी। एक ऐसा धातु प्रकोष्ठ बनाने की योजना थी, जो इसके अन्दर बैठे हुए मनुष्यों के द्वारा तेजी से चलाया जा सके। इसके अन्दर बैठे हुए व्यक्ति तो पूर्ण सुरक्षित थे लेकिन वे अन्दर बैठे बैठे ही छिद्रो से बाहर स्थित शत्रुओं का संहार कर सकते थे। इन्हीं दिनों में नेपियर ने एक धार्मिक पुस्तक भी लिखी है जो बड़ी लोकप्रिय हुई। यह पुस्तक सन् १५९३ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के प्रकाशन के कुछ समय पश्चात् नेपियर ने गणित का अध्ययन प्रारम्भ किया।

सन् १६१४ में नेपियर ने लघुगुणक सम्बन्धी महान जानकारी प्रकाशित की। यह पुस्तक नेपियर की ओर से मानवता को बड़ी अनुपम भेंट थी। इस १४७ पृष्ठों की पुस्तक को जिसके ९० पृष्ठ सारिणियों से भरे हुए थे को तैयार करने में नेपियर का २० वर्षों का अथक परिश्रम था। नेपियर के द्वारा दिये गये इस ज्ञान

के कारण बड़ी–बड़ी गणानाएँ सुगमता से हो जाती हैं और बहुत समय की बचत होती है।

वह पुस्तक जिसमें नेपियर के लघुगुणक के बारे में विस्तृत जानकारी है नेपियर की मृत्यु के दो वर्ष बाद "कन्सट्रक्टियों (Constroctio) नाम से प्रकाशित हुई। उसके "डेस्क्रिप्टो" (Descripto) में नेपियर ने वर्णन किया है कि प्रकाशित परिणाम किस प्रकार प्राप्त किये गये है। लघुगुणक को अंग्रेजी भाषा में लोगस्थिम कहते है। यह शब्द LOGOS अर्थात् अनुपात तथा ARITHMOS अर्थात् संख्या से मिलकर बना है, नाम के अनुसार इसके गुण भी हैं। सबसे पहले नेपियर ने लघुगुणक को निम्न प्रकार परिमापित किया।

यदि $a^x = N$

तक लघुगणक$_a$ $N = X$

इस प्रकार यदि $2^3 = 8$

तब $\log_2 8 = 3$

परन्तु हम जानते है कि $2^3 \times 2^5 \times 2^4 = 2^{3+5+3}$

$$3 \times 32 \times 16 = 2^{3+5+4}$$

तब लघुगुणक की परिभाषा के अनुसार

$$10g\ 8 \times 32 \times 16 = 3+5+4$$

इस प्रकार सामान्य रुप में

$$a^p \times a^q \times a^r \ldots\ldots = a^{p+q+r\ldots\ldots}$$

अब लघुगुणक की परिभाषा से

$$\text{लघुगुणक}_a\ a^p \times a^q \times a^r \ldots\ldots = p+q+r+\ldots\ldots$$

इस प्रकार लघुगुणक से गुणा करने के कार्य को सरलतर जोड़ने के कार्य में परिवर्तित कर दिया गया है। $\frac{a^m}{n} = a^{m-n}$

से लघुगुणक$_a$ $\frac{a^m}{a^n} = a^{m-n}$

अर्थात् भाग देने के कार्य को सरलतर घटाने के कार्य में परिवर्तित किया जा सकता हैं इत्यादि।

लघुगुणक सम्बन्धों गणनाओं में उपरोक्त पर आधारित निम्न सूत्रों का प्रयोग किया जाता है।

1 लघु$_a$ $m_1 \times m_2 \times m_3 \cdots\cdots\cdots x m_n$

$=$ लघु$_a m_1 +$लघु$_a m_2 +$लघु$_a m_3 \cdots\cdots$लघु$_a m_n$ जहाँ लघु शब्द लघु गुणक के लिए प्रयोग किया गया है।

2 लघु $\frac{n, \times n_2 \times n_3 \cdots\cdots}{d_1 \times d_2 \times d_3 \cdots\cdots}$

$=$लघु$_a$ $n_1 +$ लघु$_a$ $n_2 \cdots\cdots$

$-$लघु$_a$ $d_1 -$ लघु$_a$ $d_2 \cdots\cdots$

$=$लघु$_a$ $m_1 + n_2$ लघु$_a$ $m_2 + \cdots\cdots$

4 $=$ लघु$_a$ $N =$ लघु$_b$ $N \times$ लघु$_a$ $b$

उपरोक्त सूत्रों की सहायता से तथा कुछ अन्य ज्यामितीय तथा बीज-गणितीय तरीकों से कुछ सख्याओं के लघु गुणक ज्ञात होने पर अन्य संख्याओं के लघुगुणकों की गणना की जा सकती है। उदाहरण के लिए

लघु $20 =$ लघु $10 \times 2$

$=$ लघु $10 +$ लघु $2$

$= 1 + \cdot 3010 = 1.3010$ इत्यादि

नेपियर की अनुसधान वाली पुस्तक की तत्कालीन गणितज्ञों के द्वारा बड़ी सराहना की गई। "डेस्क्रिपटों" का अन्य भाषाओं में भी अनुवाद किया गया। नेपियर के देहावसान के ७ वर्ष बाद सन् १६२४ में "अरिथमेटिका लोगस्थिमिका" नाम से अन्य गणितज्ञ ब्रिग्स ने नेपियर के कार्य को प्रकाशित किया ब्रिग्स ने उस पत्राचार को भी प्रकाशित किया जो उनमे तथा नेपियर के बीच हुआ था। इस पत्राचार से ही लघुगुणक संबंधो ज्ञान को आधुनिक स्वरूप प्राप्त हुआ। इस आधुनिक स्वरूप को नेपियर तथा ब्रिग्स का संयुक्त प्रयास कहा जा सकता है।

ब्रिग्स ने जो सारिणी प्रतिपादित की उसमें शून्य को 1 का लघुगुणक लिया गया 10 के लघुगुणक कौ 1 लिया गया। 10 का आधार बनाया गया। सन् 1617 में ब्रिग्स ने 10 आधार पर प्रथम एक हजार अंकों का लघुगुणक प्रकाशित किया सन् 1620 में एडमंडगन्टर 10 पर आधारित प्रथम लघुगुणकीय ज्यासारिणी प्रकाशित की। सन् 1624 में ब्रिग्स ने प्रथम 20,000 अंकों के लघुगुणक तथा बाद में 90,000 से 100,000 तक के लघुगुणक प्रकाशित किये। उपरोक्त में लघुगुणकों का अन्तराल 20,000 से 90,000 तक का चार वर्ष बाद एक डच गणितज्ञ आदरियन ब्लेक ने किया।

ब्लेक के द्वारा इनके अतिरिक्त इसी अन्तराल में लघुगुणकीय ज्याए, लघुगुणकीय कोज्याए आदि समस्त 10 पर आधारित का भी प्रकाशन किया गया।

इस प्रकार जो गणना करने में अब सुविधा हो गई है उसके लिये संसार नेपियर, ब्रिग्स तथा ब्लेक का सदा कृतज्ञ रहेगा।

# त्रिष्टुप् छन्द

डॉ० जेतली (अ० प्रा० प्राचार्य)

त्रिष्टुप् छन्द ग्यारह अक्षरों का होता है। वेदों के आधुनिक विद्वान् बस ग्यारह अक्षर पूरे कर लेते हैं। इससे आगे नहीं बढ़ते हैं। हमने वेदों के छन्दों के विषय में पर्याप्त खोज की है। इस सम्बन्ध में हम आज त्रिष्टुप् पर अपने विचार प्रस्तुत कर रहे हैं।

यों तो छन्दों का ज्ञान किसी एक छन्द से नहीं जाना जा सकता है। पर तो भी हम पाठकों की जिज्ञासा को जगाने के लिये प्रस्तुत कर रहे हैं।

इन ग्यारह वर्णों में पहिले चरण के पिछले तीन वर्णों पर ध्यान दीजिये।

ये तीन वर्ण या तो । S S (यगण) होते हैं या । S । (जगण) होते हैं। यदि जगण भी हों तो उच्चारण की दृष्टि से वे यगण ही माने जायेंगे। वैदिक काल से चरणान्त के लघु का उच्चारण भी गुरु की तरह कर लिया जाता था। यह मान्यता संस्कृत भाषा को भी मिली हुई है।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव । S । S S । । S । S । यह उपेन्द्रवज्रा छन्द है जिसका अन्तिम अक्षर लघु है।

इसी तरह—

"कस्मै देवाय हविषा विधेम" जैसे सब चरण भी हमें मानने अभीष्ट हैं। इनका चरणान्त लघु भी गुरु माना जायगा। अब हम त्रिष्टुप् के बाकी के आठ अक्षरों पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं।

इनमें आठवाँ अक्षर हमेशा गुरु मिलता है।

तो विचार का विषय बाकी के ७ (सात) अक्षर ही रह गये।

हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि वेदों के किसी भी छन्द में कोई भी चरण इन चार —( S ।। S ), ( ।।। S ), ( S ।।। ) और ( ।।।। )— अक्षर समूहों से प्रारम्भ नहीं होता है। इसका सारांश यह है कि कोई भी चरण भगण या नगण से प्रारम्भ नहीं होता है। तो इसका अर्थ यह हुआ कि बाकी छह गणों से प्रारम्भ होता है। सारांश यह हुआ कि वेदों के छन्दों के चरणों के प्रारम्भ निम्न लिखित १२ (बारह) तरह ही हो सकते है। हम चार चार अक्षरों के समूह को दृष्टि में रखकर यह कह रहे हैं।

# मुक्ति से पुनरावर्तन

— डॉ० जयदेव वेदालंकार

मुक्ति से जीवात्मा वापिस आता है, इसके विषय में कहा जाता है कि यह मान्यता स्वामी दयानन्द जी की अपनी ही थी। अन्य किसी दर्शनकार की नहीं। परन्तु ऋषि दयानन्द जी स्वय ऐसा नहीं मानते हैं मुक्ति से वापिस आने के बारे उन्होंने प्रमाण भी उपनिषदों, और दर्शन आदि के दिये हैं। हां इतना अवश्य है कि जिस समय ऋषि दयानन्द जी का प्रादुर्भाव हुआ, उस समय के प्रायः भाष्यकार और सभी मतवादी दार्शनिक मुक्ति को सदा के लिये ही मानते थे। वे दर्शन और उपनिषदों का भाष्य भी उसी प्रकार करते थे। अस्तु। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्राचीन ऋषि, वेद और उपनिषदें, भले ही पुनरावर्तन के इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त को मानते रहे हों, परन्तु इस समय तो आदित्य ब्रह्मचारी ब्रह्मनिष्णात महर्षि दयानन्द ने ही हमारे सम्मुख रखा है। भारतीय दर्शन में इस दृष्टि से महर्षि की अद्भुत देन है।

मुक्ति से जीवात्मा वापिस लौट आता इस विषय में सबसे पूर्व जीव के स्वभाव पर विचार करना होगा। जीव का स्वभाव चल ही प्रतीत होता है। हम देखते हैं कि यदि हमारे शरीर का हाथ कट जाता है तो वह अचर यदि हाथ जीवात्मयुक्त शरीर में रहता है तो चर। हम देखते हैं कि यदि शस्त्र हमारे हाथ में है तो चर यदि नहीं तो जड़। इस सिद्धान्त के अनुसार फिर मुक्ति अवस्था में जीवात्मा को अचल माना जावे इसे हम विकसित अवस्था नहीं कह सकते हैं।

परन्तु कुछ लोग मुक्ति में जीवात्मा की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करते हैं, उनका मत है कि जैसे दीपक बुझ जाता तो उस का अस्तित्व समाप्त हो जाता है उसी प्रकार आत्मा भी नष्ट हो जाती है तो, मुक्ति से वापिस आने का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। इस पर महर्षि दयानन्द जी का कथन है, जिस मुक्ति में जीवात्मा का अस्तित्त्व ही नहीं रहता ऐसी मुक्ति जीवात्मा क्यों चाहेगा। वह तो मुक्ति नहीं अपितु जीवात्मा की प्रलय समझनी चाहिए। तत्व मीमांसा प्रकरण में हम जीवात्मा को पृथक सिद्ध कर आये हैं अतः उन्ही युक्तियों को यहां पुनः लिखना पुनरावृत्ति मात्र होगा। कुछ लोग मुक्ति में जीवात्मा का लय मानते हैं, इस लय का अभिप्रायः क्या है ? यह तो नहीं कहा जा सकता है। वे कहते हैं कि जैसे समुद्र

में जाकर नदियां अपना रूप छोड़ देतो हैं, उसी प्रकार विद्वान अपना नाम और रूप को छोड़ कर ईश्वर को प्राप्त हो जाता है। इस उपरोक्त वचन में भी अस्तित्व नष्ट होने का वर्णन तो है नहीं, केवल नाम और रूप छोड़ने का कथन है। उपनिषद् का अभिप्राय: तो यह है कि विद्वान् लोग नाम आदि के झंझटों से पृथक होकर ईश्वर को प्राप्त कर लेते हैं। क्यों उपमा (एक देशी) होती है। लय का अर्थ भी भौतिक लय नहीं लेना चाहिये।

पूर्व— मुक्ति वही है जिससे जीवात्मा निवृत हो पुनः जन्म नहीं लेता है।[2] जहां जीवात्मा जाकर वापिस नहीं आते वह मेरा परम धाम है।[3]

उत्तर— यहां वापिस न आने का अभिप्रायः यह है कि जब तक मुक्ति अवधि समाप्त नहीं हो जाती तब तक वे वापिस नहीं आते हैं। क्योंकि यह जो जन्म और मरण का चक्कर जो निरन्तर चला आ रहा है, वह बहुत समय के लिये बन्द हो जाता है। जैसे कि एक व्यक्ति किसी के घर प्रतिदिन आता हो परन्तु वह बहुत समय केलिये कहीं चला जाये तो साधारतया हम कह देते हैं कि वह अब नहीं आयेगे केवल प्रतिदिन के आने की अपेक्षा से हम ऐसा कह देते हैं। ऐसे ही इन उपरोक्त वचनों का आशय समझना चाहिये आप लोग जो मुक्ति को अभाव रूप मानते हो सो ठीक नहीं क्यों कि आप का कहना है कि[2] मुक्ति दुःखप्रध्वंसाभाव है। जैसे घट टूट जाता है टूट जाने पर वह घट नहीं आ सकता इसी प्रकार दुःखों का नाश होने पर उनका उदय नहीं हो सकता। इस प्रकार ही आप लोग मुक्ति को अभावरूप मान कर, पुनरावर्तन का खण्डन करते हो। परन्तु आप लोगों को ऐसा मानना ठीक नही क्योंकि मान लो एक समय घट का अत्यन्ताभाव है। परन्तु दूसरे समय कोई वहां घट लाकर रख देता है तो वहां पर घट का अत्यन्ताभाव कहां रहा।[1] न्याय दर्शन में जो दुःख का अत्यन्त छूट जाता मोक्ष कहा वहां पुनरावृत्ति का निषेध तो नहीं होता है। शाँकर भाष्य की टीका करते हुये श्री आनन्द गिरि जी भी लिखते हैं कि कल्पान्तर में मुक्ति से आवृति हो जाती ऐसा सूचित होता है।[2]

पूर्व०— वह जीवात्मा मुक्ति को प्राप्त कर पुन: जन्म नहीं लेता है।[3]

उत्तर— इसका अभिप्रायः भी वही है जो पूर्व लिख आये हैं क्योंकि वेद मुक्ति से वापिस लौटना मानता है। वेद में आता है कि किस का नाम पवित्र है? कौन

---

३. यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम (गीता १५।६) (स० प्र० नवम समु०)
२. न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते इति। (छान्दोग्य ८।१५ (स० प्र० नवम समु०)
१. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नाम रूपे विहाय। तथा विद्वान् नाम रूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्। मुण्डकोपनिषद् (३।२।८)

इस संसार में व्याप्त हो रहा हमें मुक्ति के आनन्द को देकर कौन फिर माता पिता के दर्शन कराता है।[4] महर्षि दयानन्द जी का अर्थ भी यहां द्रस्टव्य है।[5] उपरोक्त मन्त्र का उत्तर इस प्रकार दिया है कि वह प्रकाश स्वरूप परमेश्वर है जो मोक्ष का आनन्द देता है, वही पुनः माता पिता जन्म देकर दर्शन कराता है।[6] इन उपरोक्त दोनों वेद मन्त्रों की व्याख्या में देखा कि जीवात्मा मुक्ति से वापिस आकर माता पिता के पुनः दर्शन करता है, पुनः जन्म लेता है।

प्राचीन दार्शनिक ऋषि भी इस पुनरावृत्ति के सिद्धान्त को अंगीकार करते थे ऐसा उनके दर्शनों से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। उन दार्शनिकों के समक्ष भी तो यह समस्या थी कि यदि जीवात्मा मुक्ति के अनन्तर वापिस नहीं आयेंगे तो बहुत मौलिक समस्यायें उत्पन्न हो जायेंगी। संसार से एक जीवों का उच्छेद मानना पड़ेगा। ऐसे ही एक प्रश्न का उत्तर महर्षि कपिल जी अपने दर्शन में देते हैं उनका कहना है कि यद्यपि जीव मुक्ति को प्राप्त होते आ रहे हैं, अब भी हो रहे हैं और आगे भी मुक्त होंगे परन्तु जीवों का उच्छेद न भविष्य में कभी भी होगा।[1] यह संसार अनादि काल से चला आ रहा है। यह ठीक है कि चला आ रहा है, और रहेगा भी परन्तु जीव मुक्त होते हुये भी उनका उच्छेद नहीं होगा।[2] परन्तु यदि जीव परिगणित हो उनका उच्छेद अवश्य होगा। इस से तो यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा मुक्ति से वापिस आते रहते हैं, और अनेक लोक लोकान्तर हैं इसलिये जीवों का उच्छेद नहीं होगा।[3] परन्तु वेद ईश्वर की दृष्टि से जीवों की संख्या मानी है। वेद का कहना है कि जो वरूण भगवान सर्वत्र व्यापक है वह सभी जीवों की संख्या को जानता है।[4] अतः यह स्पष्ट हो गया कि जीवों को मुक्ति से पुनरावर्तन होता है। पूर्व०— मुक्तात्मा का बन्धन से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है क्यों श्रुति में उसे अनावृत्ति अर्थात् मुक्ति से वापिस नहीं लौटता [5] ऐसा कहा है। यहां

---

६. अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरञ्च॥ (ऋ०१।२४।२)

५. हम लोग किसका नाम पवित्र जानें? कौन नाशरहित पदार्थों के मध्य में वर्तमान देव सदा प्रकाश स्वरुप है हम को मुक्ति का सुख भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता तथा पिता का दर्शन कराता है।
(सत्यार्थ प्र० नवम समु०)

४. कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं च दृशेयं मातरञ्च॥ ऋग्वेद १।२४।१

३. स तु तत् पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते। तदत्यन्त……विमोक्षोऽपवर्गः।

२. कल्पान्तरे त्वावृत्तिरिति सूच्यते (स० प्र० नवम समु० टोका)

पर हमें अनावृति किसे कहते हैं इस पर विचार करना है। वेदान्त दर्शन में लिखा कि अनावृति अर्थात् वापिस न आना।[6] अनावृति शब्द का उपनिषद् आदि में क्या अर्थ ग्रहण किया जाता, इस पर छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि जीवात्मा इस प्रकार का व्यवहार करता हुआ ब्रह्म लोक में सम्पन्न होता है और उस ब्रह्म लोक की आयु पर्यन्त पुनः इस लोक में नहीं आता[7] अब यहां विचार करना है कि किसी की आयु। न यह शरीर की हो सकती और न ही आत्मा की अतः यह मुक्ति की आयु है। मुक्ति को अवधि कितनी है इसका स्पष्ट प्रतिपादन मुण्डकोपनिषद् में किया है। महर्षि दयानन्द जी अर्थ इस विषय में इस प्रकार है। वे मुक्त जोव मुक्ति में प्राप्त हो के ब्रह्म में आनन्द को तब तक भोग के पुनः महाकल्प के पश्चात् मुक्ति सुख को छोड़ के संसार में आते हैं। इनकी संख्या यह है कि ४३ लाख बीस सहस्र वर्षों की एक चतुर्युगी, दो सहस्र चतुर्युगियों का एक अहोरात्र, ऐसे तीस अहारात्रों का एक महीना ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष, ऐसे शत वर्षों का परान्तकाल होता है। (३१ नील दस खरब चालीस अरब वर्ष होते हैं) इतना सुख मुक्ति में सुख भोगने का है।[1] इस विवरण से स्पष्ट है कि अनावृत्ति शब्द का अभिप्रायः मुक्ति काल की अवधि पर्यन्त है। यह अवधि ३६ हजार बार सृष्टि और प्रलय है। जो सामान्य नहीं कही जा सकती है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन में भी जो मुक्ति का स्वरूप बतलाया है उससे पुनरावृत्ति का विरोध नहीं होता है। जैसा वैशेषिक दर्शन में लिखा है कि पाप और पुण्य न रहने पर शरीर मन आदि संयोग आत्मा से न रहने पर मोक्ष हो जाता है।[2] न्याय दर्शन में जो मुक्ति का वर्णन आया है उस का स्पष्टीकरण अभी पीछे कर चुके हैं। न्याय के भाष्यकार ने लिखा है, अभयु अजर और अविनाशी ब्रह्म प्राप्ति को भाष्यकार ने मोक्ष माना है[3] इन दोनों दर्शनों मुक्ति से जीवात्मा वापिस

---

७. खल्वेवं वर्तयं, यावदायुष ब्रह्मलोकमभि सम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।

६. अनावृतिः शब्दामावृत्ति शब्दात् (वेदन्त-४।४।३३)

५. न मुक्तस्य पुनर्बन्ध योगोप्यनावृति श्रुतेः।। (सां० ६।१७)

४. सर्वंतद्राजा वरूणो विचष्टे यदन्तरा रोदसीयत्परस्तात्।
संख्याता अस्य निमिषा जनाना भक्षानिवश्वघ्नीनिमितोस्तितानि।। (ऋग्वेद)

३. इत्यमेव च विद्वान्सु मुच्यमानेषु सन्ततम्।
ब्रह्माण्डलोकजीवानामनन्तत्वादशून्यता।।

.२ इदानीं सर्वंत्र नात्यन्तोच्छेदः (१।५०)

१. अनादावद्य भावाभ्दविष्यादप्येवम् (१।१५८)

आता है इसका खण्डन नही किया गया है। इसो प्रकार योग दर्शन में भी कहा है
जब प्रकृति और पुरुष का संयोग नहीं होता, उसी का नाम कैवल्य अर्थात् मोक्ष है।
आगे लिखा है प्रकृति पुरुष की विवेक ख्याति में भी वैराग्य हो जाने पर दोष के
बीज का क्षय हो जाता है, ऐसे होन से मुक्ति हो जाती है।[5]

---

५. तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् (यो० पा० ३।२६)

४. तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् (यो० पा० २।२५ सू०)

३. तदभयमजरममृत्युयदं ब्रह्मक्षेम प्राप्तिरिति।

२. तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः। (बै० अ० ५।१८)

१. ते ब्रह्मलोके ह (परान्त काले) परामृतात् (पराभूताः) परिमुच्यन्ति सर्वे
मुण्डकोपनिषद स० प्र० न० समु०

★ ★

# वेद की कुन्जी

—प्रो० भद्र सेन वेद–दर्शनाचार्य,
(होशियारपुर) १४६०२१

यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है, कि वेद संसार के पुस्तकालय की प्राचीनतम पुस्तकें हैं । विशेषतः भारतीयों का साहित्य, धर्म, संस्कृति, सभ्यता, परम्परा, इतिहास वेदों से जुड़ा हुआ है[1] । अतः भारतीयता के वट वृक्ष का मूलभूत आधार वेद ही हैं, अर्थात् वेदों से रस लेकर ही भारतीयता का सब कुछ अंकुरित, पल्लवित और फलित हुआ है । वैसे अन्यों पर भी इस की छाप पड़ी है ।

ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान, सर्वेश्वर है । अतः सूर्य, जल, वायुवत उसका ज्ञान-वेद भी, सार्वभौमिक, सार्वकालिक एवं सार्वजनीन है । उनकी दृष्टि से वेदों को भारतीयता तक ही सीमित करना सर्वथा अनुचित है । पुनरपि यह एक तथ्य है, कि भारतीयों ने प्राचीन काल से ही वैदिक क्षेत्र में जो कार्य किया है, उसकी कोई तुलना नहीं । दूसरा भारतीयों का धर्म, साहित्य आज भी वेद से जुड़ा हुआ है । अतएव वेद भारतीयों के सर्वस्व बन गए हैं, कभी तो भारतीयों की धरोहर के रूप में वेदों को स्मरण किया जाता है ।

**भारतीयता का मूल स्रोत**— भारतीयता श्री के विविध पहलुओं में से उदाहरण के लिए जब हम साहित्य पर एक दृष्टिपात करते हैं, तो स्पष्ट होता है, कि वेद के महत्व को स्वीकार करते हुए ही उसके अन्तः-बाह्य स्वरूप को समझने-समझाने के लिए समय-समय पर अनेक मनीषियों ने वैदिक वाङ्मय के रूप में एक विशाल साहित्य रचा । जिस का पद-जटा प्रभृति पाठ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, वेदाँग, उपांग, उपक्रमणिका, दर्शन तथा भाष्य सदृश्य उपलब्ध साहित्य आज भी प्रमाण है । न केवल वैदिक वाङ्मय ही, अपितु लौकिक संस्कृत के महा-

---

१- निःसन्देह जिनका यह विश्वास है, कि सृष्टि के स्रष्टा ने मानवमात्र के कल्याण के लिए सर्गारम्भ में वेदों का ज्ञान दिया । जिससे वह संसार के पदार्थों और व्यवहारों का बोध प्राप्त कर सके । तभी तो कहा है—
"सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्" ।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ मनुस्मृति १२१

काव्य, खण्डकाव्य, नाटक, चम्पू जैसे साहित्य में भी बड़े सम्मान के साथ वेदों को स्मरण किया गया है । वह रामायण हो या महाभारत, पुराण-उपपुराण हो या स्मृतिग्रन्थ या कालिदास सदृश कवियों की विविध विद्या की रचनायें । इन सभी में बड़े अनूठे ढंग से वेद की चर्चा मिलती है । आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य में वेदों को केवल आदर ही नहीं दिया गया, अपितु इन में वैदिक वाँगमय का विस्तृत विवेचन और अनुवाद भी प्राप्त होता है । दूसरी आधुनिक भारतीय भाषाओं की तो बात ही क्या ? सस्कृत से जानबूझ कर दूर ले जाई जाने वाली या वर्ग विशेष तक सोमित करके दूर की जाने वाली पंजाबी की मान्यास्पद रचना अर्थात गुरुग्रन्थ में एक सौ से अधिक बार वेद का नाम हो नहीं आता, अपितु इस के साथ वेद की महिमा भी अनेक स्थानों पर आदर पूवक मिलती है[1] ।

भारतीय साहित्य की तरह ही भारतीयता की अन्य विद्याओं के भी वेद ही मूल आधार हैं ।

भारतीय धर्म की सभी शाखाओं का सर्वस्व वेद ही हैं[1], क्योंकि इनका आचार और सिद्धान्त पक्ष जहाँ वेद के अनुरूप है, वहां कर्मकाण्ड की पूजा, यज्ञ, संस्कार व्रत आदि वेद मन्त्रों द्वारा ही सम्पन्न होते हैं ।

---

१- वेद कतेब कह हु मत भूठे,
भूठा जो न विचारे [राग प्रभाती, कबीर मह. ६, शब्द ७
वेद वखि आन करत साधुजन, भाग हीन समभत नहीं
खलु [टोडी मह.-५, शब्द-२६]
वेद कैहन इक बात ।
असंग्रन्थ मुखि वेद पाठ [जप जी]
दीवा जले अंधेरा जाई । वेद पाठ मति पापां खाई ।

---

१- अथातो धर्म जिज्ञासा, चोदनालक्षणोऽर्यो धर्मः ।
मीमांसा १, १, १-२=वेद वचन ही धर्म है ।
यही भाव मनुस्मृति में अनेकत्र अभिव्यक्त किया गया है । जैसे कि—
वेदोऽखिलो धर्ममूलम् २, ६;
ताभ्यांधर्मो हि निर्बभौ २, १०
वेद—साक्षाद् धर्मलक्षणम् २, १२
धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परम श्रुतिः २, १३ ।
तद् वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् वैशेषिक १, १, ३८
धर्म चर्चा के कारण ही वेद प्रमाण हैं ।
—वेदो धर्ममूलम्--गौतम सूत्र-१

धार्मिक साहित्य की तरह ही दर्शन, अध्यात्म, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि शाखाओं के ग्रन्थ भी वेदों को अपने विषय में प्रमाण मानते हैं। इस से स्वतः सिद्ध हो जाता है, कि भारतीय विधाओं के सभी ग्रन्थ वेद भूमि से रस लेकर ही अपने-अपने रसमय फल के उत्पादन में सफल हुए हैं।

**क्या वेद में अनेक देवताओं का वर्णन है ? —**

एक पाठक जब वेद की इस गरिमा[1] से प्रभावित हो कर उसका अध्ययन प्रारम्भ करता है, तो वह वेदों को पढ़ते हुए अनुभव करता है, कि वहाँ कहीं अग्नि का गुणगान है, तो कहीं इन्द्र के गीत गाए गए हैं और कहीं सोम स्तुति प्राप्त होती है तथा उन से अनेक तरह की प्रार्थनायें की जाती हैं। तभी उसके सामने यजुर्वेद का यह बहुत प्रचलित मन्त्र आता है—'अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रूद्रा देवता आदित्या देवता मरूतो देवता विश्वेदेवा देवता ब्रहस्पति दवतेन्द्रों देवता वरूणो देवता' १४, २० इससे सीधा सा यह भाव सम्मुख आता है, कि वेदों में इतने देवताओं की स्तुति, प्रार्थना, पूजा, उपासना है। तब एकदम पाठक को अपने पाठयक्रम के उद्धरण याद आ जाते हैं।

**क्योंकि—**

आज भी इतिहास एवं सामाजिक अध्ययन के पाठ्यक्रम में पढाया जाता है, कि वेदों में अग्नि, इन्द्र, पृथिवी, सूर्य आदि देवी-देवताओं की स्तुति है। प्रारम्भिक काल के लोग जहां भी कुछ अनोखापन देखते, आश्चर्यचकित होकर उसके गीत गाने लगते और उससे प्रार्थनायें करते थे। ऐसे स्तुति' प्रार्थनाओं वाले मन्त्रों के संग्रह का नाम ही वेद है। अतः वेद शैशवकाल की शैशवमयी रचनायें हैं[1]

**मानवजाति के इतिहास में—**

और यूनान, मिश्र, रोम और यूरोप की सभ्यता की तरह आर्य सभ्यता के लोग भी अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते थे।

---

१– पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् मनु, १२, ९३
बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥ मनु. १२, ९९
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञान मयो हि सः॥ मनु. २, ७
सर्वं वेदात्प्रसिध्यति मनु. १२, ९७
बुद्धिपूर्वा वाक्यकृति र्वेदे वैशेषिक ६, ११

---

१– निःसन्देह कुछ का विचार है, कि वेदों की प्राचीनता सर्वमान्य है, पर उनमें तात्कालिक स्थिति के परिप्रेक्ष्य से ही वर्णन है। अतः आधुनिक दृष्टि से इन की आज उपयोगिता न होने के कारण, वेद अब केवल अजायबघर की शोभामात्र हैं।

भाषाविज्ञानाधारितंहास्यम्—

# वर्धयन्तु धनधान्यसम्पदः

डॉ० सुद्युम्नाचार्यः, व्याकरणाचार्यः,
M. A. (लब्धस्वर्णपदक) Delhi
संस्कृत विभाग, मु० म० टाउन
पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, बलिया (उ० प्र०)

असारेऽस्मिन् संसारे सुखस्य सिद्धये, आनन्दस्य चावाप्तये धनं परं कामयताम् । प्राक्तनाः वेदविदः तथात्वसिद्धये निकामं धनम् अचकमन् । धनशब्दस्य निरूक्तसाक्षिकं निर्वचनम्–धनं कस्माद् धिनोतीति सतः ।[1] अत यद्धि देवं दानवं, यज्वनां प्रियं च रामम् अप्रीणात् सर्वेषु युगेषु–तदेतत् धनम् । संस्कृत-साहित्ये हिरेण्यस्यैव नामधेयं कार्तस्वरं विद्यते । अस्य विग्रहः–'कृत स्वराय देयं तत् हिरण्यं 'कार्त स्वम्' एवमस्ति । एवं सिद्ध्यतोदं यत् स्वरपाठं कुर्वाणेभ्यो वैदिकेभ्य हिरण्यमिदं प्रदीयते स्म । ते च नितऽरांतेन सन्तुष्यन्त प्रार्थनापूर्वकं स्वरपाठं कुर्वन्ति स्म।

प्राचीनेष्वाश्रमेषु यत्र शैष्योपाध्यायिका संप्रवर्ततेस्म तत्रापि बह्वो शिष्याः द्रव्यलोभात् तिष्ठन्ति स्म इति बहुभिरुदाहरणैर्निश्चीयते । ओदनपाणिनीयाः, घृतरौढीयाः इत्यादिभिः प्रयोगैर्ज्ञायते यत् पाणिनेराश्रमे ओदनस्य लोभेन, रौढेराश्रमे च घृतस्य लोभेन बह्वः शिष्याः विराजन्ते स्म ।[2] तेषामासीदिदं मतं यत् केनाप्यु-पायेन खादतमोदता संप्रवर्तताम् अनुदिनं, येन कालं वयं सुखं गमयेमहि ।

वदिक साहित्ये रैपतिन्वंगर चेदेऽपि धनमिदं परमाशास्यम् । 'न कोऽपिजनः कमपि धनाद् वृङ्क्तात्' इत्येवं स्वरस्तत्र सर्वत्राप्युपलभ्यते । 'यत्कामास्तें जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ( ) इति प्रार्थना एषणा च न क्वाप्य-दृष्टा ।' वयं रैपतयः बाजपतयः, धनपतयः, पशुपतयः स्याम' इति बारं बारं तत्र प्रार्थनमुपलभ्यते । एक एवासीत् प्रतिबन्धः । अस्माभिः सर्वैः रैपतिना भाव्यं, न तु रैदासेन । धनं, श्रियं च स्वैरमुपभुङ्क्तां, परं न तु तस्य दासः संवर्तताम् । योऽपिहि जनः धनमुपभुञ्जानोऽपि तस्य वशी भवति स्म स एव सम्मानास्पदरूपेण गण्यते

---

१. निरूक्त ३ । ९

२. पा० स० १।१।७३ सूत्रस्ये 'गोत्रोत्तर पदस्य च' इति वार्तिकव्याख्यायां महा-भाष्यस्थनुदाहरणम् ॥

स्म। धनस्य वश्यस्तु सर्वत्रानादरं लभतेस्म। पुराणेषु हि लक्ष्म्याः पतिः भगवान् विष्णुरूपेणोपचयते। परं लक्ष्म्याः वाहनं, लक्ष्म्या धारितो वा जनउलूकरूपेणो–प्रोच्यते। एवं वशिनो जनस्य धनोपभोगे नास्ति प्रतिषेधः। तेन तु 'यो वै भूमातर–सुखम्' इत्युपनिषद्वचनमनुरून्धानेन प्रभूत धनवता भाव्यम्।

धनस्य लाभो हि करोति धन्यताम्–सस्कृतसाहित्ये धन्यशब्द आशीरर्थे व्यवह्रियते। 'धन्योऽस्ति स यो वेदं वेत्ति', 'धन्योऽस्ति सः यश्शास्त्राण्यधीते' इत्येवं बहवः प्रयोगा उपचर्यन्ते। परं वस्तुतः धन्यः स एव योहि धनं लभते। पाणिनिराचार्यः धनगणं लब्धा (पा. सू. ४।४।८४) इति सूत्रेण महता कण्ठेन 'धनं लब्धाः' इति विग्रहेण धन्यशब्दम् अन्वशात्। अतो वेदविदां धन्यताऽन्यथासिद्धा, धनवतां तु प्रथमा इति निश्चीयते। वस्तुतोधनवतां समक्षम् अपारता वेदविदांधन्यताः।

परं योऽपिहि जन धनं न लभते, एकेन विशेषणेन प्रोच्यताम्? तस्मै हत पौरूषाय पुरूषाय '**अधन्य**' शब्दः प्रयुज्यते लोके। अधन्यशब्दस्यार्थस्तु 'मूर्खः' नीचः, दरिद्रो वेति प्रोक्तः साहित्ये। शब्दोऽयं यथा ब्रवीति तथा तु धनहीनेन पुरूषेण मूर्खरूपेणावश्यभाव्यम्। धनिषु तु धनस्योष्मणः प्रभावेण सर्वमपि पाण्डित्यं, सर्वमपि लावण्यं समं तिष्ठति। स्मर्यताम्—यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पण्डितः स श्रुत्वान् गुणज्ञः। स एव वक्ता स च दर्शनीय, सर्वे गुणाः कांचन माश्रयन्ति।

सर्वाऽपि श्रेष्ठता न गुणेषु, न विद्यायाम् अपितु धनवत्सु विराजते। अत एव ते केवलं धनस्योष्कणः प्रभावेण 'श्रेष्ठी' पदेन प्रोच्यन्ते। अन्येषु जनेषु तु भवतु कामं श्रेष्ठता शतं प्रतिशतं, परं सर्वंभाते श्रेष्ठि पदानर्हाः।

अहो धनस्य प्रभावः— धनप्रभाव समक्षंतु अपास्तं सर्वं व्याकरणं, दूरंगत काव्यशास्त्रारा अत एव प्रोक्क्त साहित्ये–बुभुक्षितैः व्याकरणं न भुज्यते, पिपासितैः काव्यरसः न पीयते। न छन्दसा केनचिदुद्घृतं कुलंहिरण्यमेवाऽपि निष्फलाः कलाः।

मन्ये, अत एव वैदिकाः कार्तस्वरं प्रशंसन्ति स्म। हिरण्यमिदं सर्वत, हितरमणमिति मतिर्निरूक्तस्य।[1] परं चित्रमिदं यत् नग्नसत्यमिदं शब्दशः नासहन्त ते विद्वांसः। अत एव औचित्यविचारचर्चायां काव्यमेतत् औचित्यविरहितमिति प्रोक्तम्।[2] तेषामासीदियं परम्परीणा गतिर्यत् धनस्य संग्रहः कामं भवतु, परं

---

१. हिरण्यं हितरमणं भवतीति वाहृदयरमण भवतीति वा निरु–२।१०

२. अत्र- न च काव्यरसः पिपासितैः पीयते, न च बिद्यया केनचिदुद्धृतं कुलमित्युक्ते सर्वमेतद्दारिद्रयादैन्यविद्रुतधैर्यकातरत्या तत्वविरहितं विपरीतमुपन्यस्तअनौचित्यसंयुक्तमेव— औचित्यविचारचर्चा ५.१४९

शब्दशस्तु निर्धनतैव प्रशस्यास्माभिः। कार्यं धनशालिनां स्यात्, शब्दास्तु धनहीनानां स्युरित्येवं ते संगिरन्ते स्म।

प्राचीना वैदिकास्तु कार्यं कुम्भीधान्यवतां स्याद् वा न वा, नाम तु धन-शालिनां स्यादित्येवं मन्वते स्म। अत एव भरद्वाज (धनभरणशाली), वसिष्ठः (सम्पत्तौ प्रशस्यतम) इत्यादीनि नामान्यभि रक्षन्ति स्म।

निर्धने निधने चैव नास्त्येव महदन्तरम्—वस्तुतो 'धनमेव जीवनं, धनाभाव एव मरणम्' इति समीकरणं सनातनम्। अत एव निधनार्थे वर्तमानस्य निधनशब्दस्य मृत्युरित्यर्थः समपद्यत। निधनशब्दार्थं ब्रुवता केनापि कविना एवं प्रोक्तम्—

'निकारः पूर्वं हि तदनु धनं चेति निधनम्' अर्थात अनादर पूर्विका द्रव्यप्रतिर्निधन-मित्युच्यते। एतरसम्मानं मृत्योर्नाति- दूरम्। एतदेवान् कारणं यन्निर्धनार्थे निधनशब्द, भुवि परिवृढः।

धान्यं परं धीमहि-अत एव 'धनशालित्वं परं श्रेष्ठम् 'धन्यं पर धीमहि' इत्येवं संप्रावदन्त सर्वे मनीषिणः। धनस्य सजुषः पुरुषा लोके सर्वाण्यपि कार्याणि कर्तुं क्षमन्ते। येऽपि हि जनाः स्वपोषं पुष्यन्ति तेषां जगति सर्वत्रापि प्रभावोऽनिलक्ष्यते। धनमिदं धनस्वामिनं प्रत्येवोपकारकं भवति। अत एव धनस्य 'स्वापतेयम्' इति नामधेयं संगच्छते। 'धन स्वामिनि साधुः स्वापतेयम् इति शब्दकल्पद्रुमः। यस्य मनुष्यस्य हस्ते नास्ति धनं, तस्य मनुष्यस्य कृते धनमिदं गोपकारकम्। तयाहमुक्तम् तुस्तकस्यातु याविद्या परहस्तगतं धनम्। प्राप्तकाले समुत्पन्ने न साविधा न

अदानशीलः शत्रोर्नातिभिन्नः- धनस्य महान्तं प्रभावनमिलक्ष्यैव धनदानस्य विधानं चक्रिरे धर्मशास्त्रकाराः। दान शीला राजानः बहुभिर्विशेषणैः प्रशस्यन्ते स्म। तेषां स्वास्थ्य मायुष्यं नैरूज्यं च प्राप्यन्ते स्म। दानविहीनांनातु न तथा। सरणिरेषा 'अराति' शब्दे दृष्टा। शब्दोऽयं शत्रुं बोधयति। परमस्य व्युत्पन्तिलभ्-योऽर्थस्तु अदानशील एव। दानार्थकात् रा धातो, 'राति' शब्दस्य, तस्य निषेधेन 'अराति' शब्दस्य निष्पत्तेः। एवं स्पष्टमेतद्यत् अदानशील शत्रुरूपेणाभिमन्यते स्म।

तथापि दाने नैयूनं वर्तते राहभागिषु—तथापि दानं तु न्यूनमेव भवति स्म। अथवा प्रतिग्रहीत्रे सर्वदा नैयूनमस्यामिलक्ष्यते स्म। अत एव 'अर्पयति' इत्यादि प्रयोगेषु वर्तमानः अर्र धातुः अल्पमर्थमपि व्यवृणोत्। न्यूनार्थे प्रयुक्तोऽल्पशब्दोऽयम् अर्पूधातोरेव विकासमोप, रलयोरभेदात्। दानार्थकात् अर्पूधातोः न्यूनार्थकोऽल्पः-शब्दस्तदैव संभवितुं क्षमते, यदा अर्पणं न्यूनं स्यात्। एवं शब्दोऽयं दानस्य न्यूनतां व्याचष्टे।

एवं लोके धनस्य माहात्म्यं सुतरां व्याख्यात भवति।

# भारतस्य प्रतिष्ठे द्वे संस्कृतं संस्कृतिस्तथा

**दिनेशचन्द्र शास्त्री**
एम० ए० उत्तरार्ध (संस्कृत)

आसीत् पुरा किल अस्माकमयन्देश: सकलानां राष्ट्राणां गुरुः। अत्रत्याः धैर्यधारिधुरन्धरा: धर्मोद्धारधौरेयाः धर्मधनधुरीणाः धरणिधराधीश्वराः ज्ञानविज्ञानविचक्षणाश्च विद्वांसो जगति लब्धप्रतिष्ठा: सकल भूपालमौलिमुकुटचुम्बित-चरणाश्चाभवन्नित्यत्र यद्धेतुस्तत् संस्कृतमेव।

ऐतिहासिकानां विदेशीयानां स्वदेशीयानाञ्च विदुषां तथा विविधभाषा-याःमर्मज्ञानां विशेषज्ञानाम् आलोचकानां मतमिदं यत् पुरा सर्वेऽपि एकामेव संस्कृतभाषामभाषन्त परस्परम्। इयमेव सा भाषा या अतीते विदेशीयप्रभञ्जनानां दुःसह्यान्याक्रमणानि सहमानाऽपि कश्मीरादारभ्याकन्याकुमारीमेकतासूत्रे आर्याणां कृतगुम्फना सत्यार्यसंस्कृतिमरक्षत्। प्रतीच्यः प्रधो: श्री मोक्षमूलरभट्टः कथयति—

'संस्कृत इज दी ग्रेटेस्ट लैंग्वेज इन दी वर्ल्ड, दी मोस्ट वन्डरफुल एण्ड दी मोस्ट परफैक्ट।'

इयं भाषासु मधुरा मुख्या दिव्या गीर्वाणभारती वरीवर्ति। अस्यामेव चत्वारो वेदा उट्टङ्किताः सन्ति। त एव वेदा भारतीय संस्कृतेरेकमात्राधारभूताः। अद्यतनीने स्वतन्त्रे भारते संस्कृतभाषाऽभावेन विविधप्रकारकाणां घटितानांघटना-चक्राणां प्रादुर्भावो वर्तते। अस्या एवोपेक्षया आतङ्कवादभ्रष्टाचारबलात्कारा-दयस्तु हठात् विद्यमानास्सन्त: जनान् त्रासयन्ति। पुरा यो देश: समेषां राष्ट्राणाम् अग्रणीरासीत्, अद्याऽसावेव 'भारतदेश:' विदेशीयानाम् सभ्यतां संस्कृतिं चानुकरोति स्वीयां सभ्यतां संस्कृतिञ्च उपेक्ष्य यद् असौ परेषामनुकरणं विदधाति तदेव एषां समेषाम् घटितघटनाचक्राणाङ्कारणम्, यदस्माकङ्कृते त्रपास्पदमेवास्ति। अस्माक-मुपरि पाश्चात्यशिक्षाया: पूर्णतया प्रभावोदृग्गोचरीभवति। ब्रिटिशशासकै: प्राचीनाशिक्षापद्धतिः तन्मूलस्रोतांसि च पाठशालाः स्वकूटनीत्या विनाशिता इति न विद्यते तिरोहितङ्कस्यचित्। गौराङ्गशासकानामासीदयन्दृढतमः संकल्पोयद् अस्माभिरेक इदृशः पठितवर्ग उत्पादयितव्यो यः खलु रूधिरेण वर्णेन च भारतीयः सन्नप्याचारे व्यवहारे मन्तव्याभिरूचौ विचारविवेके च सर्वथा आंग्ल: स्यात्'। नास्त्यत्र लेशमात्रमपि सन्देहावसरो यदाङ्गलप्रभूणाम् कृपया तादृशो 'बाबूवर्गः

समुदपद्यत। असावेव वर्गः साम्प्रतं भारतीयसंस्कृतेस्तस्याश्चैकमात्राधारभूतायाः संस्कृतभाषायाः महान् द्वेषी तदुन्नतिमार्गे च प्रत्यूहरूपेण विराजते। पुरावयमुद्घोषयामासिम धराधराधीशशिखरे स्थित्वा यत्—

"एतत्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रंशिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।"

तथाच— "नमेस्तेनो जनपदे नकदर्योनमद्यापः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणीकुतः।।"

गीर्वाणवाण्या एवेदं महत्त्वमासीत्। पुरा एनामेवाधीत्य मानवो मानवो भवति स्म, दानवोऽपि दानवताम् पर्यहरत्। एनामेव प्रचर्च्य पुरा साङ्गोपाङ्गः-वेत्तारः परित्यक्तसकललोकसुखाः महर्षयो मुनिपुङ्गवाश्च यमानां पालयितारः नियमानाम् पोषयितारः सुधर्मस्य रक्षायितारः रचयितारश्च सच्छास्त्राणाम्प्रादुरभवन्। अस्याः प्राचीनता, व्यापकता, सौन्दर्यं, मधुरतासर्वमेवेदृशं वर्तते येन न केवलं मानव संस्कृतेरितिहासः प्रकाशे आयाति अपितु मानवहृदयमानन्दमग्नं भवति।

संस्कृतं वस्तुतो भारतस्य राष्ट्रियनिधिरस्ति। यस्मिन्नहनि भारते (संस्कृतम्) इति न कर्णगोचरतां यास्यति तस्मिन्दिने भारतीया संस्कृतिरपि मृता भविष्यति, तथा च तदभावे भारतमपि पञ्चत्वम्प्राप्स्यतीति निश्चितम्। अतः साम्प्रतमपि येन भारतमिदम् जीवति, येन भारतीया सभ्यता श्वसिति, येन च भारतीयसंस्काराः प्राणवन्तः सन्ति तत् संस्कृतमेव प्रभुप्रदन्ता भाषा। इदम् संस्कृतमेवास्मद्देशे कविकुलगुरूं कालिदासं, भवभूतिम्, आदिकविम् बाल्मीकं, भारतप्रभारतस्य महाभारतस्यकर्त्तारम् श्रीवेदव्यासञ्चाजीजनत्। अत एव कथयन्ति खलु पण्डिताः यद् भारतस्यसमुन्नतिः संस्कृतभाषया एव भवितुमर्हति—

"भारतस्योन्नतिः शान्ति, भंवेत् संस्कृतभाषया।
वदामि करमुद्धृत्य, सर्वेषां सदसिस्थितः।।"

परन्तु अतीव दुःखस्य विषयोऽस्तियत् स्वतन्त्रता-सभाजिते सर्वविध-प्रभुसन्त्तासम्पन्नेऽपि भारते विश्वम्भराभोगभास्वल्ललामलीलायमानेऽस्मिन् भारते पाश्चात्यवासनावासिताः केचन भारतीया अपिजनाः संस्कृतभाषा 'मृतभाषा' इति कथयन्ति। ते न विचारयन्ति यदियममरभाषा देववाणी, सा कथं मृतभाषा-भवितुमर्हति। वस्तुतः —

"नवेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तस्यनिन्दां सततं करोति।
यथा किरातो करिकुंम्भजातां मुक्तां परित्यज्य बिभर्तिगुञ्जाम्।।"

वर्तमाने समये देशस्य एकतार्थं संस्कृतमेव राष्ट्रभाषा भवेदिति समुदेति समीचीनः पक्षः। यतोहि अस्याभावेऽखण्डभारतस्य परिकल्पना क्व ? संस्कृतेनैव भारतस्याखण्डताऽक्षुण्णत्वम् लब्धुं शक्नोति। विगते चीन-भारतयुद्धे यदा भारतस्य सीम्नां विवरणस्य आवश्यकता अनुभूता सर्वकारेण, तदा प्राचीनैः संस्कृतमयैः समुद्धरणैः एव सा सम्पोषिता। अस्माकम् भारतीया संस्कृतिः संस्कृताश्रिताऽस्ति। यदि संस्कृतभाषा न स्यात् तर्हि संस्कृतेरपि महत्वन्न भविस्यति। यतोहि चत्वारो वेदाः संस्कृतभाषायामेव सन्तीति पूर्वं लिखितं मया।

भारतीया संस्कृतिः सर्वासुसंस्कृतिषु प्राचीनतमा श्रेष्ठा ज्येष्ठा चास्ति। अत्रयद् वैशिष्टयं वरीवर्ति तदन्यत्र नास्ति। यस्मिन् काले आधुनिक सभ्य-सन्तमानां देशानांजनाः सभ्यता-हीनाः संस्कृति-विहीनाः दीनाः स्वजीवन-यापनं कुर्वन्त आसन्, तस्मिन्नपि काले भारतीयासंस्कृतिः स्वचरमोत्कर्षे विराजन्ती, सदाचारान् निर्दिशन्ती, सर्वलोकहितं वदन्ती, धममुपदिशन्ती, सन्मार्गं कथयन्ती च विशोभतेस्म। एवमियं वैदिकी संस्कृतिः प्रथमा संस्कृतिरिति वेदाः वदन्ति—

"सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा" (यजु० ७।१४) भारतीय संस्कृतेः सर्व-थमोऽयंगुणोवर्तते, यदियं भगवती भागीरथी इव स्वमध्यपतितान् स्वेतरसंस्कृति-नदीनदादीन् स्वात्मरूपेण परिणामयन्ती स्वात्मसात् कुर्वन्ती निर्बाधं प्रवहति। परन्तु सम्प्रति सर्वत्र प्रचारम्आवहन्तौं भौतिकसुखस्यैव प्राधान्यम् उपदिशन्ती पाश्चात्यरूपं दर्शयन्ती पाश्चात्य संस्कृतिः भारते भासते, तया च भारतीय-संस्कृतिः विरलप्रचारेव दृश्यते।

वर्णाश्रमव्यवस्था भारतीयसंस्कृतेः मूलभूतं तत्वं वरीवर्ति। अनयाव्यवस्थया "बेरोजगारी" पदवाच्यायाः समस्यायाः समाधानं स्वतः एव सञ्जायते। यतो हि वर्तमान काले शारीरिक श्रमं विहाय ग्रामं परित्यज्य पत्तनेषु धावन्तः शतशः छात्रा अधीत्य च स्वपरम्पराप्राप्तं कार्यं न कुर्वन्ति, किन्तु अनया व्यवस्थया एतादृशी देशव्यापिनी दशा न भवितुं शक्नोति। यतः संस्कृतिरियं सर्वेष्वेव कार्येषु गौरवं-दिशति, न वा शारीरिक-श्रमस्य गौरवं गूहते। एवमेव आश्रम व्यवस्थया स्वत एव जनो वैराग्यं आवहन् धर्मगौरवं धारयन् पापाचाराद् विरमन सर्वहितावहं कार्यं कुर्वन् स्वशरीखस्थया सह स्वकार्यकलापस्य सामञ्जस्यं विदधाति। अत एव पारिवारिक समस्यानां समाधानं स्वतः एव सञ्जायते।

वस्तुतो यदि वयं विचारयामस्तर्हि समेषामेषां वर्धमानानां पापानामपरा-धानाम् अनैतिकाचरणानां कुकार्याणाञ्चजननी भोगतृष्णैव वर्तते। अनयवप्रेरि-तोजनः पैशाचिक-कार्याणि आतङ्कवादादीनिकरोति, किन्तु भारतीयसंस्कृतिः अस्यादुष्पूरताम् शासती परित्याज्याम् एनां समुपदिशति। सा मानवमात्रस्य कल्याणं कामयते यत्—

"सर्वे भवन्तु सुखिन·, सर्वे सन्तुनिरामयाः ।
"सव भद्राणि पश्यन्तु, माकश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥"

तथा च— "मा भ्राता भ्रातरं द्विषन् मा स्वसारमुत स्वसा" ।

अपिच— "संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसिजानताम् ।"
"माताभूमिः पुत्रोऽहंपृथिव्याः " ॥

अत एव राष्ट्रकवि मैथिलीशरणगुप्तमहाभागेन कथितम्—

"मानस भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती ।
भगवान भारतवष में गूँजे हमारी भारती ॥"
(भारतभारती)

कियद् वर्ण्येत गीर्वाणभारती तथाच संस्कृतिः ? न ते वर्णयतो मे मनस्तृप्यति, नाप्यात्मा सन्तुष्यति, वराकी लेखन्यपि श्रान्तासन्त्रस्ता च सती नाऽग्रेप्रसर्तुमुत्सहते, विश्रान्तिमिच्छति सापि वराकी, सामर्थ्याभावान्न जातु तयोः गुणानाभियन्तामेति । किं बहुना:—

"भारतस्य प्रतिष्ठे द्वे संस्कृतं संस्कृतिस्त थे" ति दिक् ॥

★ ● ● ★

# गुरुकुल समाचार

## (१) राष्ट्रीय दर्शन महासम्मेलन—

दर्शन विभाग के तत्वाधान में १५-५-८७ से १८-५-८७ तक राष्ट्रीय दर्शन महासम्मेलन का आयोजन यू० जी० सी० के सौजन्य से सम्पन्न हुआ। इस महा-सम्मेलन में लगभग सौ प्रतिनिगण ने सक्रिय भाग लिया और भाषा दर्शन पर श्री भर्तृहरि एवं विटगेन्सटाइन के दार्शनिक विचारों का मन्थन प्रस्तुत किया।

## २) उत्तर प्रदेश दर्शन परिषद् का १२वाँ वार्षिक अधिवेशन—

१६ मई से १८ मई तक दर्शन विभाग के ही तत्वावधान में उक्त परिषद् का वार्षिक अधिवेशन सम्पन्न हुआ। इसमें लगभग १०० प्रतिनिधिगण ने विभिन्न गोष्ठियों में अपने-२ शोधपत्र वाचन किये।

इन उपर्युक्त सम्मेलनों के उद्घाटन समारोह में श्री सोमनाथ मरवाह जी विजिटर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय मुख्य अतिथि के रुप में पधारें। आपने अपने मुख्य भाषण में विश्व शान्ति के उपायों पर प्रकाश डाला।

यह दर्शन का महासम्मेलन डॉ० जयदेव वेदालंकार के निदेशकत्व में सम्पन्न हुआ।